सैंटर फॉर डिस्टैंस एंड आनलाईन ऐजुकेशन

पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

कक्षा : एम.ए. भाग–1 *सैमेस्टर–1*

पत्रा : तीसरा (हिन्दी साहित्य का इतिहास) *एकांश संख्या : 1*

(1850 तक)

माध्यम : हिन्दी

पाठ नं.

1.1 इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

1.2 हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा आधारभूत सामग्री और साहित्येतिहास की पुनर्लेखन की समस्याएँ

1.3 हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन और सीमा निर्धारण

1.4 हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि, परिस्थितियाँ और नामकरण, प्रवृत्तियां, काव्यधाराएं और उनकी प्रवृत्तियां गद्य साहित्य

पेपर तीन
हिंदी साहित्य का इतिहास (1850 तक)(HINM2PUP-T-103)

प्राईवेट विद्यार्थियों के लिए
पूर्णांक : 100
समय : 3 घण्टे
प्रतिशत : 35

रैगुलर और ओपन एंड डिस्टेंस लर्निंग विद्यार्थियों के लिए
लिखित परीक्षा : 75 अंक
आंतरिक मूल्यांकन : 25 अंक
पास अंक : लिखित में 26 अंक
आंतरिक में 9 अंक

उद्देश्य :–

1. विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के विभिन्न चरणों से परिचित करवाना।
2. हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के कवियों व उनके साहित्य से विद्यार्थियों को परिचित करवाना।
3. हिन्दी साहित्य के प्रति रूचि उत्पन्न करवाना।

अधिगम प्रतिफल :–

1. हिन्दी साहित्य के प्रति विद्यार्थियों की रुचि बढ़ेगी।
2. साहित्य की विभिन्न विद्याओं की जानकारी प्राप्त होगी।
3. विद्यार्थी हिन्दी साहित्य की विभिन्न कवियों, उपन्यासकारों कहानीकारों से परिचित होंगे।

निर्धारित पाठ्यक्रम

1. इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास।
2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा, आधारभूत सामग्री और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन और सीमा–निर्धारण।
4. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि, परिस्थितियां और नामकरण, प्रवृत्तियां, काव्यधाराएं उनकी प्रवृत्तियां, गद्य साहित्य।
5. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) की पृष्ठभूमि, परिस्थितियां, सांस्कृतिक–चेतना एवं भक्ति आंदोलन।
6. (क) निर्गुण संत काव्य का वैशिष्ट्य।
   (ख) सूफी काव्य का वैशिष्ट्य।
   (ग) राम काव्य का वैशिष्ट्य।

(घ) कृष्ण काव्य का वैशिष्ट्य।

(ड.) भक्तिकालीन गद्य साहित्य।

7. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) की पृष्ठभूमि, परिस्थितियां और नामकरण, दरबारी संस्कृति और लक्षण–ग्रंथों की परंपरा, रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएं (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त) और उनकी विशेषताएं, रीतिकालीन गद्य साहित्य।

छात्रों और परीक्षकों के लिए आवश्यक निर्देश

इस पेपर में प्रश्न दो स्तरों पर पूछे जाएंगे। पहले स्तर पर आठ दीर्घ प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से चार का उत्तर देना होगा। यह प्रश्न परीक्षक पूरे पाठ्यक्रम से इस प्रकार पूछे कि छात्र को पूरे पाठ्यक्रम से उत्तर देना जरूरी हो। दूसरे स्तर पर पूरे पाठ्यक्रम से सात (प्राईवेट विद्यार्थियों के लिए आठ) लघु प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनका बिना विकल्प के सात से आठ पंक्तियों तक उत्तर देना अनिवार्य है। अंक विभाजन

चार दीर्घ प्रश्न– 4×10=40(रै.,ओ. एंड डि.ल)

4×15=60(प्रा.)

लघु प्रश्न – 7×5 = 35(रै.,ओ. एंड डि.ल)

8×5 = 40(प्रा.)

अध्ययन के लिए सहायक पुस्तक सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका– आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास– सं. डॉ. नगेन्द्र।
4. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास– डॉ. रामकुमार वर्मा।
5. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (दो भाग) – डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त।
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. रामसजन पाण्डेय।
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल'

पाठ संख्या : **1.1**

इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

इकाई की रूपरेखा :

1.1.0 उद्देश्य

1.1.1 प्रस्तावना

1.1.2 इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

1.1.3 साहित्य का इतिहास

1.1.4 हिन्दी साहित्य की आधारभूत सामग्री

1.1.5 साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्या

1.1.5.1 स्वयं जांच अभ्यास

1.1.6 सारांश

1.1.7 सहायक पुस्तकें

1.1.0 उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थीगण हिन्दी साहित्य से संबंधित संपूर्ण जानकारी प्राप्त करने के साथ–साथ इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास विषय से भी परिचित हो सकेंगे।

1.1.1 प्रस्तावना :

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का समारंभ किस ग्रंथ से माना जाए, यह विवाद आज भी है। कुछ विद्वान् हिन्दी साहित्येतिहास परंपरा का वास्तविक आरंभ उन्नीसवी शती से ही मानते हैं। इस काल से पूर्व हिन्दी में अनेक कवियों और लेखकों द्वारा अपने पूर्ववर्ती कवि और स्वयं के बारे में सफुट संकेत करने के उदाहरण हमें – चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल, कविमाल, कालिदास हजारा आदि ग्रंथों से मिलते हैं।

1.1.2 इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास :

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से सम्बन्ध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असम्बद्ध

नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे, देखा जाये तो साहित्यिकं रचनाएं भी मानवीय क्रियाकलापों से भिन्न नहीं है; अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएं साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे सम्बन्धित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं को समझना भी आवश्यक है। प्रारम्भ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवन–चरित्रा एवं राजनीतिक घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचनाओं व रचयिताओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किन्तु ज्यों–ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों–त्यों साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गम्भीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्राों की तुलना में साहित्य का इतिहास–दर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किन्तु फिर भी समय–समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयाए हुए हैं जिनका लक्ष्य साहित्येतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुंचाने का रहा है।

यद्यपि अंग्रेज़ी–साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करता है या साहित्य की प्रवृत्तियां सम्बन्धित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारण को एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच विद्वान् तेन (Taine) को है जिन्होंने अपने अंग्रेज़ी–साहित्य के इतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यतः तीन प्रकार के तत्व सक्रिय रहते हैं – जाति (race), वातावरण (milieu), क्षण–विशेष (moment)। तेन ने अपनी व्याख्या के द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे सम्बन्धित जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन–विश्लेषण आवश्यक है। तेन के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए हडसन ने आक्षेप किया कि उन्होंने साहित्य की विकास–प्रक्रिया का सारा महत्व उपर्युक्त तीन तत्वों को ही दे दिया, जबकि साहित्यकार या काव्य–रचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा कर दी। निश्चय ही, हडसन का यह आक्षेप तेन के सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण न्यूनता या त्राुटि की ओर संकेत करता है, किन्तु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास–प्रक्रिया को बहुत–कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिन्तकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धान्त स्थापित हुए, किन्तु उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'युग–चेतना' (Spirit of age) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए. एच. कॉफे ने महान् कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धान्त की महत्ता को प्रमाणित किया है। किन्तु, हमारे विचार में यह सिद्धान्त भी एकांगी ही है क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है; अंतः उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग–संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्य की विकास–प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए सैक्युलिन ने रूसी

साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों का सम्बन्ध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग–संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किन्तु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं जो एकांगिता व अतिवादिता का प्रमाण होता है।

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों के–विशेषतः शैलीपक्ष के–विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई. ए. रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, सी. एस. लेविस, डब्लू. पी. कर, एफ. बका. बैटसन प्रभूति के नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृत्तियों के विश्लेषण एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किन्तु, इनके निष्कर्षों में पारम्परिक सामंजस्य, एकरूपता एवं अन्विति का अभाव होने के कारण वे अध्येता के मार्ग को प्रशस्त कम और कंटकाकीर्ण अधिक करते हैं।

अस्तु, साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचाते, किन्तु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन–विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे सम्बन्धित राष्ट्रीय परम्पराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्ति प्रवृत्तियों का विवेचन–विश्लेषण आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त साहित्य की विकास–प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धान्त परिपूर्ण नहीं है, किन्तु आंशिक सत्य से भी ये सर्वथा शून्य नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास–प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे सम्बन्धित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए – 1. सर्जन–शक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व), 2. परम्परा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परम्पराएं), 3. वातावरण, 4. द्वन्द्व और 5. सन्तुलन। वस्तुतः यह सिद्धान्त सृष्टि की सामान्य विकास–प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है – साहित्य के क्षेत्रा में भी प्राकृतिक सर्जन–शक्ति अर्थात् साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा परम्परा (सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परम्परा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियां, प्रवृत्तियों तथा चेतना) के द्वन्द्व से प्रेरित होकर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वन्द्व के दोनों पक्षों में सन्तुलन–स्थापन होता है। वस्तुतः यह द्वन्द्व ही साहित्यकार की मूल प्रेरणा होता है, किन्तु स्थितिविशेष व व्यक्ति–विशेष के अन्तर से द्वन्, का क्षेत्रा परिवर्तित होता रहता है; अतः कोई साहित्यकार अपने ही आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व से परिचालित होता है, तो कोई पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या अर्न्तराष्ट्रीय से। एक क्षेत्रा का द्वन्द्व सन्तुलित या शान्त हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन–शक्ति किसी अन्य क्षेत्रा के द्वन्द्व की ओर उन्मुख होती है। वस्तुतः परम्परा और युगीन वातावरण के अन्तर्विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व ही साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृत्तियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास–प्रक्रिया को संचालित करता है। अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे सम्बन्धित पूर्व–परम्परा, युगीन वातावरण, द्वन्द्व के स्त्राोत, अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य–विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये है जिनसे साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। किन्तु, यहां इनका विस्तृत परिचय न देकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध

ययन विकासवाद के आधार पर ही सम्भव है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की भी वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विकासवादी सिद्धान्तों का आधार ग्रहण करना आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि जो लोग इतिहास को भी कल्पना–विकास और भाव–सौन्दर्य का क्षेत्रा मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति–दोनों को ही व्यर्थ समझें।

1.1.3 साहित्य का इतिहास :

सृष्टि की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से सम्बन्ध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से अलग नहीं है। साहित्य के इतिहास से हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक–रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं।

इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप :

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है – 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इतिहास में उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका सम्बन्ध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों तथा घटनाओं से है। साथ ही इतिहास का सम्बन्ध केवल प्रसिद्ध घटनाओं से नहीं, बल्कि उन घटनाओं से भी है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अन्तर्गत अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रकृति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में अतीत के किसी भी तत्व एवं प्रकृति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि कालाविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो – इतिहास कहा जा सकता है।

भारत सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामाजिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता है। इसलिए यहां के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की है। उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया–कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके सबके हित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए 'महाभारत' ने जहां इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत माना जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का उपदेश दिया जा सके तो पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित्रा–वर्णन को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्रा को अधिक महत्व प्रदान किया। यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिाक तत्वों के बदले यथार्थ पूरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्व प्रदान किया। किन्तु काव्यात्मकता और अलंकारों का मोह वे भी नहीं त्याग सके। इसलिए जहां प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएं चारित्रिाक मूल्यों, नैतिक उपदेशों और आध्यात्मिक रूपकों से मुक्त होकर पौराणिक रूप से परिणत हो गयी वहां परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएं शुद्ध इतिहास के बदले 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में विकसित हुई।

1.1.4 हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री :

इतिहास लेखन में सबसे बड़ी समस्या आधारभूत सामग्री की होती है। असंख्य वर्षों में विकीर्ण सामग्री को ढूंढना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन कार्य है। यह कार्य तब और भी कठिन हो जाता है, जब आधारभूत सामग्री विवादास्पद अथवा संदेहास्पद हो। हिन्दी–साहित्य के एक हज़ार वर्षों का इतिहास लिखने में कठिनाई का सर्वाधिक सामना इतिहास–लेखकों को करना पड़ा है। इस दिशा में एक तो आधारभूत सामग्री बहुत कम उपलब्ध हो पाई है और दूसरे, प्राप्त पर्याप्त सामग्री की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। सबसे बड़ी बात यह है कि अन्वेषण तथा शोध कार्य निरन्तर गतिशील रहा, जिसके कारण जहां एक और नई–नई सामग्री प्रकाश में आती चली गई, वहीं दूसरी और पुरानी उपलब्ध सामग्री का शोधन भी हुआ। जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास

लिखा था, उस समय उपलब्ध सामग्री अपूर्ण तथा संदिग्ध थी, परन्तु उसके पश्चात् बहुत–सी नई सामग्री प्रकाश में आई और संदिग्ध एवं विवादास्पद आलोडन–विलोडन के उपरान्त कुछ नवीन निष्कर्ष प्राप्त किए गए। आज हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता अनुभव होने लगी है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री का सर्वप्रथम उल्लेख डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास) में अल्प परिचय के साथ किया। उन्होंने समस्त सामग्री को दो भागों में विभाजित किया – 1. अन्तर्साक्ष्य 2. बहिर्साक्ष्य। अन्तर्साक्ष्य के अर्न्तगत उस सामग्री को सम्मिलित किया, जिसमें या तो साहित्यिक–रचनाओं ने अपने सम्बन्ध में कुछ लिखा है या उनके समकालीन अथवा परवर्ती लेखकों ने उनका वर्णन किया है। बहिर्साक्ष्य के अन्तर्गत शिलालेखों, पट्टद्धों, परवानों, ऐतिहासिक ग्रंथों, किवदंतियों के रूप में मिलने वाली सामग्री को लिया। अन्तर्साक्ष्य का उल्लेख करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा ने पच्चीस ग्रंथों की चर्चा की है। जिनमें हिन्दी साहित्य के निर्माताओं के जीवन चरित, आदर्शों तथा रचनाओं के काव्य सौन्दर्य का वर्णन हुआ है। ये ग्रंथ इस प्रकार है –

गोकुल नाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' (1625) नाभादास कृत 'भक्तमाल' (1662) श्री गुरु अर्जुन देव द्वारा सम्पादित 'गुरु ग्रंथ साहिब' (1661), तुलसीदास कृत 'कवित्तमाला' (1712), कालिदास द्विवेदी कृत 'कालिदास हजारा' (1775), भिखारी दास कृत 'काव्य–निर्णय' (1982), सूदव कवि कृत 'न–नावली' (1810) कृष्णादेव व्यादेव कृत 'रागसागरोद्भव राग कल्पदुभ' (1900), ठाकुर प्रसाद त्रिापाठी कृत 'रस चन्द्रादय' (1920), सरदार कवि कृत 'श्रृंगार संग्रह' (अज्ञात), महेश दत्त कृत 'काव्य संग्रह' दिग्विजय भूखन', मातादीन मिश्र कृत 'कवित्त रत्नाकर' (अज्ञात), शिव सिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (1940), देवी प्रसाद मुनसिफ कृत 'कवित्त रत्नमाला' (1968) आदि।

बहिर्साक्ष्य के अन्तर्गत डा. वर्मा ने दो प्रकार की सामग्री ग्रहण की। प्रथम कोटि में उन्होंने दस ग्रंथों को लिया, जो इस प्रकार है – कर्नल टाड कृत 'राजस्थान' (1988), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (विस्कट कृत) (Kabir and Kabirpanth) (1946), मैकालिक कृत (History of the Sikh Religion) (1946), डॉ. एल.पी. टैपीटरी कृत (A discriptive catalogue of Wardie and Historical manuscripts), मोतीलाल मेनारिया की राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज आदि। बहिर्साक्ष्य के अन्तर्गत आने वाले दूसरी कोटि की सामग्री को डॉ. रामकुमार वर्मा ने निम्न उपभागों में विभाजित किया :

1) चन्देल राजा परपाल के समय के जैन शिलालेख और आबू पहाड़ के राजा चेत सिंह के शिलालेख आदि।
2) ऐतिहासिक स्थान – जैसे कबीर चौरा – कांशी, अमेठी में जायसी की समाधि राजापुर में तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, टीकमगढ़ में केशवदास का स्थान आदि।
3) जनश्रुतियां तथा किवंदन्तियां – डॉ. वर्मा के मत में यद्यपि ये विशेष प्रमाणित तो नहीं होती तथापि इनसे सत्य की ओर संकेत अवश्य मिलता है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन में सहायक स्त्राोतों व आधारों को पांच वर्गों में विभाजित किया है – 1. साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं 2. साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने की रचनाएं 3. साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या से सम्बन्धित आलोचनात्मक व अनुसन्धानपरक ग्रंथ 4. प्राचीन साहित्यकारों के काल निर्धारण व रचना–काल के निर्णय के योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री जैसे – शिलालेख, वंशवलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि 5. विभिन्न युगों की आन्तरिक और ब्रह्य परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री। उनके मतानुसार प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आने वाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नहीं हैं, किन्तु अप्रकाशित सामग्री की उपलब्धि अवश्य

दुष्कर है उनके मत में सहस्त्राधिक रचनाएं अभी तक अप्रकाशित पड़ी है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने डॉ. रामकुमार साहित्य का परिचय देने वाली डॉ. माता प्रसाद गुप्त, डॉ. प्रेम नारायनण टण्डन आदि लेखकों, निर्देशकों को भी सम्मिलित किया है।

1.2.5 हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्या :

साहित्य चेतना का विकास और नवीन शोध–परिणामों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है – इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण है – प्रत्येक युग में साहित्य चेतना में निरन्तर परिवर्तन या विकास होता रहा है। वर्तमान समय का साहित्य–चिन्तन धारा वैसी नहीं है जैसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय में था। यह सही है कि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नहीं बदलते, फिर भी बदलते हुए युग–बोध के कारण परिप्रेक्ष्य तथा कार्य करने के विशेष ढंग आदि में निश्चय ही परिवर्तन होता है। दूसरा प्रमुख कारण पिछले दशकों के निरन्तर अनुसंधान के फलस्वरूप बहुत अधिक मात्राा में नई सामग्री प्रकाश में आई। साथ ही अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन हुआ। फलस्वरूप स्थापित निर्णय और निष्कर्ष आवश्यक रूप से बदल गए। इनके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण कारण भी है : जैसा कि इलियट ने कहा है केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता– वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है इस तर्क के अनुसार प्रत्येक समय में साहित्य के नये विकसित रूप उसी साहित्य के पूर्वरूपों के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए मिश्रबन्धुओं के 'मिश्रबन्धु विनोद' में श्रेष्ठ कवियों की जो परम्परा बनाई उस परम्परा में बाद के कवि मैथिलीशरण गुप्त जयशंकर प्रसाद, निराला पन्त आदि के आविर्भाव के बाद अवश्य ही परिवर्तन हो गया है अथवा हिन्दी महाकाव्य परम्परा में 'रामचरितमानस' रामचन्द्रिका आदि का स्थान–निर्धारण करने के लिए 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। किसी शृंखला में जब नयी कड़ियां जुड़ती हैं, तो स्वभावतः पुरानी कड़ियों की स्थिति पूर्ववत् नहीं रह जाती। अतः नवीन शोध परिणामों के आधार पर विकासशील साहित्य–चेतना के आलोक में सम्पूर्ण परिदृश्य का पुर्नावलोकन सर्वथा आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में दो मौलिक प्रश्न हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों के सामने कुछ अनुत्तरित प्रश्न खड़े हैं जिनका समाधान कर लेना आवश्यक है–

1) हिन्दी का स्वरूप विस्तार कहां तक है? और

2) साहित्य की सीमा क्या है?

हिन्दी के स्वरूप विस्तार का प्रश्न कुछ राजनीतिक कारणों से उलझ गया है। हिन्दी के विद्वान् और भाषा विंद् आरंभ से ही यह स्वीकार करते आये हैं कि भारतवर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिन्दी या खड़ी बोली हिन्दी सामाजिक व्यवहार अर्थात् पत्राचार शिक्षा–दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार–विनियम तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब का सब हिन्दी प्रदेश है और उसके अन्तर्गत बोली जाने वाली सभी भाषाएं हिन्दी की उपभाषाएं हैं। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली का इलाका हिन्दी क्षेत्रा में आते हैं और मैथिली भगही, भोजपुरी, पूर्वी–अवधी, पश्चिमी अवधी, बघेलखण्डी, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी के विविध रूप, कुमाऊंनी आदि पहाड़ी बोलियां हिन्दी की शाखा –प्रशाखाएं हैं। यह परिभाषा नयी नहीं है, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषायी राज्यों और उनके प्रलोभनों की किसी को कल्पना नहीं थी। हिन्दी का यह बृहत्तर या विशाल – यानि राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है, स्वाभाविक तर्कसंगत रूप है। जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन अब पिछले कुछ वर्षों से यह विवाद ज़ोर पकड़ रहा है। एक मत के अनुसार हिन्दी का अर्थ वर्तमान हिन्दी या खड़ी बोली हिन्दी है। मैथिली को साहित्य–अकादमी जैसी मान्यता

भी दे दी है और उसके साहित्य के स्वतन्त्रा प्रकाशन एवं अध्ययन–अध्ययन जैसी संस्था ने मान्यता भी दे दी है और उसके साहित्य के स्वतन्त्रा प्रकाशन एवं अध्ययन –अध्यापन का क्रम चलने लगा है राजस्थानी को स्वतन्त्रा भाषा का रूप लेने के लिए प्रयत्नशील हों।

दूसरा मत विस्तारवादी है, जिसके अनुसार उर्दू भी हिन्दी की ही उपभाषा है नागरी प्रचारिणी सभा तथा भारतीय हिन्दी–परिषद् के इतिहासों में उर्दू साहित्य के विकास का भी निरूपण किया गया है।

इस विषय में एक सन्तुलित दृष्टि अपनानी चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ तत्व अवश्य समान है किन्तु असमान तत्व कहीं अधिक हैं। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है। मैथिली, राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदि काल से ही हिन्दी–साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है। इसी प्रकार गुरुमुखी में लिपिबद्ध हिन्दी गद्य–पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है, जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहास या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएं समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वांड्मय का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए, क्योंकि हिन्दी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हिन्दी–साहित्य का ही अंग है।

कुछ ऐसी ही शंका आदि काल की हिन्दी के विषय में भी उठती है। उस समय की हिन्दी का स्वरूप अपभ्रंश डिंगल–पिंगल और सीमान्तवर्गी क्षेत्राों में गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा हुआ है कि इतिहासकार भ्रम में पड़ जाता है। वह प्रस्तुतः भारतीय भाषाओं का उद्भव काल है, जिससे प्रायः सभी भाषाओं के स्वरूप अनिश्चित और अस्थिर है। इसीलिए हिन्दी में भी एक पूर्ववर्ती और निकटवर्ती भाषा रूपों का अन्तर्भाव हो जाना स्वाभाविक है। व्यवहारिक दृष्टिकोण यह है कि ऐसी सभी रचनाओं को, जिनके अधिकांश भाषित रूप हिन्दी की उपभाषाओं के भाषिक रूप से अभिन्न है, हिन्दी के अन्तर्गत मान लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न है, इतिहास के संदर्भ में साहित्य की सीमा कहां तक मानी जाए। मध्ययुग में आयुर्वेद ज्योतिष आदि शास्त्रा तथा अन्य सभी साहित्य पद्य में लिखित हैं। गद्य में भी अनेक पूर्ववर्ती टीकाएं, बचनिकाएं, वार्ताएं, ख्याति और बातें मिलती हैं। इधर आधुनिक युग में ज्ञान–विज्ञान के असंख्य ग्रंथों की रचना निरन्तर हो रही है। उदाहरण के लिए आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग का वार्ता साहित्य शुद्ध साहित्य में नहीं आता, किन्तु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है? उस साहित्य के अभाव में विकास परम्परा की कुछ आवश्यक कड़ियां लुप्त हो जायेगी। आधुनिक काल के आरंभ में रचित स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है। परन्तु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना संभव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य ऐसे गौरव ग्रंथ है, जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य है। एक ओर भाषा, पाठ विज्ञान, कोष विज्ञान, पत्राकारिता आदि और दूसरी और दर्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्रा आदि के क्षेत्राों की उपलब्धियों कथ्य की दृष्टि से साहित्य के अन्तर्गत भले ही नहीं आती, किन्तु वे प्रकारान्तर से गद्य शैली के विकास में योगदान करती है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः इतिहासकार के यहां भी विवेकपूर्ण प्रमुख और गौण का भेद करते हुए वांड्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके चलना चाहिए। अर्थात् इस के साहित्य को प्रधान विषय बनाकर उसके पोषक रूप में ज्ञान के साहित्य का आंकलन करना चाहिए।

1.1.5.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास विषय से सम्बन्धित अपने विचार व्यक्त करें।

.....

.....

.....

2. हिन्दी साहित्य की आधारभूत सामग्री पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

3. हिन्दी साहित्य के पुर्नलेखन में कौन सी समस्याएं आती हैं। टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

1.1.6 सारांश :

साहित्येतिहास लेखक को साहित्य और समाज के इस अंतः संबंध को भली–भांति समझ लेना चाहिए। दोनों का कल्याण और सही पहचान दोनों के अंतरांलंबन में है–इतिहास दर्शन हमें इसी पक्ष की सार्थकता प्रतिपादित करता है, इसे व्यापकता के अर्थ में लेना चाहिए।

1.1.7 सहायक पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
2. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त

पाठ संख्या : **1.2**

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा

इकाई की रूपरेखा :

1.2.0 उद्देश्य
1.2.1 प्रस्तावना
1.2.2 हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा
1.2.2.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.2.3 सारांश
1.2.4 लघु प्रश्न
1.2.5 शब्दार्थ
1.2.6 सहायक पुस्तकें

1.2.0 उद्देश्य :

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक कवियों और लेखकों द्वारा ऐसे ग्रंथों का निर्माण हुआ, जिनमें हिन्दी के साहित्य के निर्माताओं के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह सब कुछ व्यष्टि रूप से हुआ, समष्टि रूप से नहीं। इसके अतिरिक्त उनमें समग्र ऐतिहासिक चेतना का भी अभाव है। उदाहरणार्थ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' भक्तमाल और कविमाला आदि में कवियों का निर्देश किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष की भावना से किया गया है, व्यक्तित्व और कृतित्व को ध्यान में रख कर नहीं। इनमें काल क्रम और सन् सम्वत् आदि का भी अभाव हैं। अतः इन ग्रंथों को सच्चे अर्थों में इतिहास कह सकना कठिन है। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप अग्रलिखित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे –

1) साहित्य के इतिहास के लेखन की परंपरा की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे।
2) हिन्दी साहित्य की आधारभूत सामग्री से परिचित हो जाएंगे।
3) इतिहास के पुनर्लेखन में जो समस्याएं आती हैं के बारे में भी ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।

1.2.1 प्रस्तावना :

अब तक की जानकारी के अनुसार हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम लेखक एक विदेशी फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तांसी ठहरता है। उन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर एदुई ऐदुस्तानी' नामक ग्रंथ में अंग्रेज़ी वर्ण क्रमानुसार हिन्दी और उर्दू भाषा के अनेक कवियों और कवयित्रियों का परिचय दिया है। शिवसिंह सेंगर द्वारा रचित ग्रंथ 'शिव सिंह सरोज' में लगभग एक हज़ार भाषा कवियों के जीवन चरित और उनकी कविताओं के उदाहरण जुटाये गऐ हैं। जार्ज ग्रियर्सन के 'द मार्डन वर्नेक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दोस्तान' का प्रकाशन् 1822 में हुआ। इस ग्रंथ में काल विभाजन के साथ समय–समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

इतिहास–लेखक की परम्परा को आगे बढ़ाने का कार्य मिश्र बन्धुओं ने भी किया। इन्होंने चार भागों में 'मिश्र बन्धु विनोद' लिखा। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने इसमें कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के साहित्यिक मूल्यांकन को अधिक बल दिया। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के ग्रंथों–हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य का आदि काल भी इस ओर सफल प्रयास है।

निःसंन्देह आज हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित अत्यधिक पुस्तकें उपलब्ध हैं।

1.2.2 हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा :

उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी जिनमें हिन्दी के विभिन्न कवियों के जीवन–वृत्त एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे–'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि–किन्तु इनमें काल–क्रम, सन्–संवत् आदि का अभाव होने के कारण इन्हें 'इतिहास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः अब तक की जानकारी के अनुसार हिन्दी–साहित्य के इतिहास–लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तांसी का ही समझा जाता है जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' ग्रन्थ लिखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्ण–क्रमानुसार दिया गया है। इसका प्रथम भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खण्डों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन–परिवर्तन किया गया। इस ग्रन्थ का महत्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिन्दी–काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा कवियों के रचना–काल का भी निर्देश किया गया है; अन्यथा कवियों को काल–क्रम के स्थान पर अंग्रेज़ी–वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल–विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिन्दी के कवियों में इतर भाषाओं को घुला–मिला देना आदि ऐसी त्रुटियां हैं जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठकर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः किसी भी क्षेत्रा में किये गये प्रारम्भिक एवं प्राथमिक प्रयास का महत्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं, अपितु नयी दिशा की ओर अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है – यह बात तांसी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रन्थ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिन्दी–साहित्येतिहास–लेखन की परम्परा में, उसके प्रर्वत्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

तांसी की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को है, जिन्होंने 'शिवसिंह–सरोज' (1883) में लगभग एक सहस्त्रा भाषा–कवियों का जीवन–चरित उनकी कविताओं के उदाहरण–सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवियों के जन्म–काल, रचना–काल आदि के संकेत भी दिये गये हैं, यह दूसरी बात है कि वे बहुत विश्वसनीय नहीं है। इतिहास के रूप में इस ग्रन्थ का भी महत्त्व अधिक नहीं है, किन्तु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिन्दी–कविता सम्बन्धी ज्ञान को संकलित कर दिया गया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं– इसी दृष्टि से इसका महत्व है।

सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिाका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मार्डन वर्नेक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिन्दी–साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियां को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके काल–विभाजन सम्बन्धी प्रयास के गुण–दोषों पर आये अलग रूप में विचार किया जाएगा, किन्तु यहां इतना

अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा और हिन्दी–साहित्य के स्वरूप एवं विकास के सम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ–प्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि उन्होंने हिन्दी–साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्रा निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत–प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी–फारसी–मिश्रित उर्दू को। उन्होंने अपनी भाषा–नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है..... मैं आधुनिक भाषा–साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूं।

अंतः में संस्कृत में ग्रन्थ–रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूं। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूं। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो, पर आधुनिक भाषा के अन्तर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी–फारसी के भारतीय लेखकों को उल्लेख कर रहा हूं और न ही विदेश से लायी गयी साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही–मैंने इन अन्तिम को, उर्दूवालों को, अपने इस विचार से जानबूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तांसी ने पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।

मिश्रबन्धुओं द्वारा रचित 'मिश्रबन्धु–विनोद' चार भागों में विभक्त हैं, जिसके प्रथम तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को 'इतिहास' की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया है कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक और तो इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल–खण्डों में विभक्त किया है। इस क्षेत्रा में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। इतिहास के रूप में इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ–साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

हिन्दी–साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी–साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है जो मूलतः नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी–शब्द–सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतन्त्रा पुस्तक का रूप दे दिया गया। इसके आरम्भ में ही आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है : ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृतियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य–परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत–कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'' इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्य के विकास–क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथ्ज्ञक रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। साथ ही उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरम्भ करने से पूर्व ही 'काल–विभाग' के अन्तर्गत हिन्दी–साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट काल–खण्डों में विभक्त करके अपनी योजना को एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत कर दिया कि जिसमें पाठक के मन में शंका और सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता– यह दूसरी बात है कि उन्होंने काल–विभाजन का आधार न देकर केवल तत्सम्बन्धी निष्कर्षों की ही सूचना दी है। किन्तु, इससे उस युग के उन पाठकों को अवश्य लाभ हुआ जो काल–विभाजन की सूक्ष्मताओं के पचड़े में पड़े बिना ही सम्पूर्ण हिन्दी–साहित्य को एक दृष्टि से देख लेना चाहते थे। नवोपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार अब यह काल–विभाजन त्रुटिपूर्ण

सिद्ध हो गया है, किन्तुइसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी अतिसरलता व स्पष्टता के कारण यह आज भी बहुप्रचलित और बहुमान्य है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है – पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण–धारा और सगुण–धारा में और फिर प्रत्येक के दो–दो शाखाओं–ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा रामभक्तिशाखा व कृष्णभक्तिशाखा– मैं विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यनुसन्धान करने वालों के लिए भी एक अत्यन्त सरल एवं सीधा मार्ग तैयार कर दिया।

इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता है–कवियों और साहित्यकारों के जीवनचरित सम्बन्धी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता देना। इस क्षेत्रा में उन्होंने एक तो चुने हुए कवियों को ही लिया–जहां 'मिश्रबन्धु–विनोद' में कवि–संख्या पांच हजार तक पहुंच चुकी थी। वहां उन्होंने उनमें से लगभग एक हजार को ही अपने इतिहास में स्थान दिया; फिर उनके विवेचन में उनकी साहित्यिक महत्ता व लघुताका ध्यान रखते हुए उन्हें तद्नुसार ही स्थान दिया। वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रमाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में भी उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। रीतिग्रन्थकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनकी उपलब्धियां तथा सीमाओं के सम्बन्ध में जो निर्णय आचार्य शुक्ल ने दिये, वे बहुत–कुछ अंशों में आज भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी–साहित्य–लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो सकती है कि धर्म–निरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रेय में काव्य–रचना करने वाले कवियों के लिए या राम–कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य अवतार या देवी–देवता की उपासना करने वाले भक्त कवि के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। फिर भी, यह नामकरण और वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा–निर्धारण, परम्पराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है जिससे इस काल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियो, वीररसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों के रचयिता कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास–जैसे आचार्य कवि को 'अलंकारवादी' तथा परवर्ती रीतिकवयों को 'रसवादी' घोषित करते हुए उन्हें रीति–परम्परा के प्रर्वतक के पद से वंचित करना भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहां एक ओर केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस–सिद्धान्त का सांगोपांग निरूपण किया है, वहां दूसरी ओर रीतिकवियों ने प्रायः अलंकारों पर भी ग्रन्थ लिखें हैं। वास्तविकता यह है कि रीति–प्रतिपादन के क्षेत्रा में इस काल के प्रायः सभी रीतिबद्ध कवियों ने न केवल केशवदास द्वारा प्रस्तुत विषयों का, अपितु उनकी प्रतिपादन–शैली का भी पूरी तरह अनुसरण किया है। ऐसी स्थिति में तथाकथित 'रीतिकाल' (या रीति–परम्परा) का प्रर्वतन केशव से ही मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा।

आचार्य शुक्ल के इतिहास–लेखन के लगभग एक शताब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्रा में अवतरित हुए। उनकी 'हिन्दी–साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किन्तु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतन्त्रा लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है जो हिन्दी–साहित्य के इतिहास–लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। जहां आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि 'युग की परिस्थितियों' को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहां

आचार्य द्विवेदी ने परम्परा का महत्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खण्डित किया जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं। उन्होंने अतयन्त सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति–आन्दोलन न तो तद्युगीन पराजित हिन्दू जाति की निराशा से उद्भेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं–आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थे। इसी प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस्लाम के प्रभाव का खण्डन करते हुए लिखा है.... मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूं, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।''

इसी प्रकार उन्होंने सन्त–काव्य–परम्परा के स्त्राोतों का अनुसन्धान करते हुए सिद्धों और नाथपन्थियों की वाणियों, विचार–सरणियों, पद्धतियों व काव्य–शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित हैं। वस्तुतः भाव, विचार, तर्क–पद्धति, भाषा, शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिन्दी का सन्त–काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपन्थियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है; अतः उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्त्राोतों का अनुसन्धान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु कथानक–रूढियां, रचना–शैली, छन्द–योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य–परम्पराओं पर आश्रित है।

मध्यकालीन हिन्दी–काव्य के विविध स्त्राोतों के अनुसन्धान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी के सन्त–साहित्य और वैष्णव–भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्राीय परम्परा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्व पर बल देते हुए प्रायः अनेक इतिहासकार सन्तों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तु–स्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है : ''कभी–कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्रा–ज्ञानहीन, सुनी–सुनायी बातों का गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्याय नीची कही जानेवाली जातियों के लिए शास्त्रा और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान–बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाये तो शास्त्रा–ज्ञान तत्व–ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी–कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्राीय तर्क–जाल में मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।''

'हिन्दी–साहित्य की भूमिका' के अनन्तर आचार्य द्विवेदी की इतिहास सम्बन्धी कुछ और रचनाएं भी प्रकाशित हुई हैं – 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिन्दी–साहित्य का आदिकाल' आदि। इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी–साहित्य के इतिहास की–विशेषतः मध्यकालीन काव्य के स्त्राोतों व पूर्व–परम्पराओं के अनुसन्धान तथा उनकी अधिक सहानुभूति' पूर्ण व यथातथ्य व्याख्या करने की–दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है।

आचार्य द्विवेदी के ही साथ–साथ इस क्षेत्रा में अवतरित होने वाले एक अन्य विद्वान् डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी–साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938) में 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि को ही लिया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचन्द्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया गया है। इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है, यथा – 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', 'निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) शाखा जैसे लम्बे–लम्बे नामों के स्थान पर 'सन्तकाव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है जो अधिक सुविधाजनक है।

'वीरगाथा–काल' को 'चारणकाल' की संज्ञा देने के अतिरिक्त उससे पूर्व एक 'सन्धिकाल' और जोड़ दिया गया है। यद्यपि इस समय तक अपभ्रंश और हिन्दी का भेद भली–भांति स्पष्ट हो चुका था तथा स्वयं डॉ. वर्मा ने भी दोनों को भिन्न–भिन्न माना है, फिर भी अपभ्रंश के सिद्ध, जैन व नाथपन्थी कवियों की वाणी को हिन्दी–साहित्य में स्थान देने का लोभ वे भी संवरण नहीं कर पाये। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयाम्भू को, जो कि अपभ्रंश के सबसे पहले कवि हैं, हिन्दी का पहला कवि मानते हुए हिन्दी–साहित्य का आरम्भ 693 ई. से स्वीकार किया है। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण–दोषों का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य–सौन्दर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ. वर्मा के कवि–पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है तथा पाठकों को इस बात का अभाव प्राय खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित है, इसका शेष भाग अभी तक अलिखित है।

इधर **नागरीप्रचारिणी सभा** द्वारा भी 'हिन्दी–साहित्य का बहृत् इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना क्रियान्वित हो रही है, जिसके अन्तर्गत समस्त हिन्दी–साहित्य को सोलह भाषाओं में प्रस्तुत किया जाएगा। यद्यपि इस ग्रन्थ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण कर लिया गया है, फिर भी प्रत्येक खण्ड अलग–अलग विद्वानों के सम्पादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हो रहा है तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग अपेक्षित है, ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में सामान्य रूप में कुछ कहना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक खण्ड की सफलता–असफलता बहुत–कुछ उसके सम्पादक व सहयोगी मण्डल पर निर्भर हैं। इस दृष्टि से अब तक प्रकाशित खण्डों में से कुछ बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, यथा–इसका षष्ठ भाग (रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य) अपने विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। समग्र रूप में यह योजना हिन्दी–साहित्येतिहास की बिखरी हुई सामग्री को सूत्राबद्ध कर सकेगी, इसमें सन्देह नहीं। इतिहास के स्थूल ढांचे के रूप में इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को ही किंचित् संशोधित करके अपनाया गया है। अतः मूल ढांचे के गुण–दोष इसमें भी अधिक व्यापक, विस्तृत एवं सबल रूप में विद्यमान रहेंगे। यदि सभी क्षेत्राों के शताधिक लेखकों के स्वतन्त्रा सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्सन्देह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवता आ पाती।

विभिन्नि विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास–ग्रन्थों में 'हिन्दी–साहित्य' भी उल्लेखनीय है, जिसका सम्पादन डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। इसमें सम्पूर्ण हिन्दी–साहित्य को तीन कालों–आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल–में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य–परम्पराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहां इसमें यत्रा–तत्रा अधिक स्वतन्त्राता से काम लिया गया है–यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य–परम्परा' जैसी नयी काव्य–परम्पराओं को भी स्थापित देखते हैं। पर साथ ही इसमें कुछ दोष भी है–विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास–लेखन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है जिससे इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, हिन्दी–साहित्य की इतिहास–लेखन की परम्परा में इसका विशिष्ट स्थान है।

उपर्युक्त इतिहास–ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक शोध–प्रबन्ध और समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं जो हिन्दी–साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास की तो नहीं, किन्तु उसके किसी एक पक्ष, अग या काल को नूतन ऐतिहासिक

दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। इन सब का विवेचन तो यहां सम्भव नहीं, किन्तु इनका संकेत अवश्य किया जा सकता है, यथा डॉ. भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी–काव्यशास्त्रा का इतिहास', डॉ. नगेन्द्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की सन्त–परम्परा', श्री प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य–सम्प्रदाय और उसका साहित्य', डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ–सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी–साहित्य का अतीत', श्री चन्द्रकान्त बाली का 'पंजाब–प्रान्तीय हिन्दी–साहित्य का इतिहास', डॉ. टीकमसिंह तोमर का 'हिन्दी–वीरकाव्य', डॉ. मोतीलाल मेनारिया–कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' व 'राजस्थानी पिंगल साहित्य'; डॉ0 केसरीनारायण शुक्ल, डॉ. श्रीकृष्णलाल और डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक काल सम्बन्धी विभिन्न शोध–प्रबन्ध, डॉ. नलिनविलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास–दर्शन', डॉ. सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खण्डकाव्य', डॉ. सरला शुक्ल, डॉ. हरिकान्त श्रीवास्तव, डॉ. ओमप्रकाश शर्मा प्रभृति के प्रेमाख्यान काव्य सम्बन्धी शोध–प्रबन्ध आदि ऐसे शताधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनके द्वारा हिन्दी–साहित्य के विभिन्न काल–खण्डों, काव्य–रूपों, काव्य–धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन शोध–प्रबन्धों में उपलब्ध नूतन निष्कर्षों के आधार पर अद्यतन सामग्री का उपयोग करते हुए नये सिरे से हिन्दी–साहित्य का इतिहास लिखा जाए। ऐसा करने के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित ढांचे में आमूतचूल परिवर्तन करना पड़ेगा क्योंकि वह उस सामग्री पर आधारित है जो आज से 40-45 वर्ष पूर्व उपलब्ध थी, जबकि इस बीच बहुत–सी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयास 'हिन्दी–साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में हुआ है, जिसमें साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हुए उनके आलोक में हिन्दी–साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार गार्सा द तांसी से लेकर अब तक कि परम्परा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिन्दी–साहित्य का इतिहास–लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों का आकलन और समन्वय करता हुआ सन्तोषजनक प्रगति कर गया है। इतना ही नहीं कि हमारे लेखकों ने विश्व–इतिहास–दर्शन के बहुमान्य सिद्धान्तों और प्रयोगों को अंगीकृत किया है, अपितु उन्होंने ऐसे नये सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये हैं जिनका अस्यक मूल्यांकन होने पर अन्य भाषाओं के इतिहासकार भी उनका अनुसरण कर सकते हैं।

1.2.2.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा के विषय में अपने विचार व्यक्त करें।

.....

.....

.....

1.2.3 सारांश :

सर्वप्रथम डॉ. ग्रियर्सन ने 'मार्डन वर्नाक्लयूलर ऑफ हिन्दुस्तान' में काल विभाजन का प्रयास किया। तत्पश्चात् मिश्र बन्धुओं ने, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित काल विभाजन को अब तक मान्यता मिली हुई है।

1.2.4 लघु प्रश्न :

1. साहित्य के इतिहास का क्या अर्थ है ?
2. इतिहास लेखन की परंपरा पर संक्षिप्त टिप्पणी करें।

3. इतिहास की आधारभूत सामग्री के विषय पर अपने विचार व्यक्त करें।
4. इतिहास के पुनर्लेखन में कौन–सी समस्याएं पेश आती है ? टिप्पणी करें।

1.2.5 शब्दार्थ :

अपेक्षा – की बजार
तटस्थता – सावधानी
अनुसंधान – खोज
पुनर्लेखन– दोबारा लिखना
अप्रात्य – जो प्राप्त न हो

1.2.6 सहायक पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां – डॉ. शिव कुमार शर्मा
4. हिन्दी साहित्य – सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा

पाठ संख्या : **1.3**

काल विभाजन, सीमा–निर्धारण

इकाई की रूपरेखा :

1.3.1 उद्देश्य
1.3.2 प्रस्तावना
1.3.3 काल विभाजन एवं नामकरण (सीमा निर्धारण)
1.3.3.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.3.4 सारांश
1.3.5 लघु प्रश्न
1.3.6 सहायक पुस्तकें

1.3.1 उद्देश्य :

इतिहास लेखन ऐतिहासिक अनुसंधान का पर्याय नहीं है। ऐतिहासिक अनुसंधानता जहां नए तथ्यों की खोज और उपलब्ध सामग्री के नए नतीजों पर बल देता है वहां इतिहास–लेखन के लिए नए नतीजों से आकर्षित होने के स्थान पर प्रमाणिक समय सिद्ध तथ्यों को अधिक महत्व देना चाहिए। नये तथ्यों और नए शोध निष्कर्षों का वह आदर तो अवश्य करे, किन्तु उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नहीं होते जब तक कि समय का प्रमाण–पत्रा उन्हें प्राप्त न हो जाए।

इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन से उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना के क्षेत्रा में निश्चय ही महत्वपूर्ण है, परन्तु इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से सन्तुलन भंग हो सकता है। इतिहास में समन्वयात्मक दृष्टिकोण और सन्तुलित विवेचन ही अधिक महत्वपूर्ण है।

1.3.2 प्रस्तावना :

साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में अभी उचित प्रगति नहीं हुई है। इसका कारण इतिहास–विधा का हमारे देश में विकसित परम्परा का न होना है। जिस कारण आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर पाए। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहास ग्रंथों के प्रकाशन के बाद भी हिन्दी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् 1925 में हुई थी। यह स्थिति हिन्दी के गौरव के अनुकूल नहीं है। विशेषतः जबकि हिन्दी आलोचना साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। अतः इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास की आवश्यकता है।

1.3.3 काल विभाजन एवं नामकरण (सीमा निर्धारण) :

किसी सुदीर्घ परम्परा को काल खण्डों में विभाजित करने का एक कारण यह भी है कि कोई परम्परा एकरस विकसित नहीं होती, उसमें समय–समय पर रूप दिशा की दृष्टियों में परिवर्तन होते रहते हैं। फलतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन की आवश्यकता अनुभव की गई। गार्सा दी–तासी, शिव सिंह सेंगर आदि प्रारम्भिक हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने काल विभाजन का कोई प्रयास नहीं किया। सर्वप्रथम डॉ. ग्रियर्सन ने मार्डन वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान में ऐसा प्रयास किया। उसके ग्रंथ के विभिन्न अध्याय काल विशेष के ही सूचक हैं। परन्तु परवर्ती इतिहास लेखकों ने उसके इस प्रयास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। तदुपरान्त मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद' में हिन्दी–साहित्य की सुदीर्घ परम्परा को पहले पांच भागों में विभाजित किया, फिर उन्हें नौ काल–खंडों में विभक्त किया। इनका विभाजन भी परवर्ती लेखकों को मान्य न हुआ, क्योंकि वह अव्यवस्थित, अप्रमाणिक तथा आवश्यकता से अधिक लम्बा समझा गया। वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादन काल विभाजित ही ऐसा प्रथम काल–विभाजन है, जिसे त्रुटिपूर्ण मानते हुए भी आज तक मान्यता मिली हुई है। शुक्ल जी के उपरान्त प्रायः सभी इतिहास–लेखकों तथा विद्वानों ने शुक्ल जी के काल विभाजन का ही मुख्य रूप से समर्थन किया है। इस दिशा में यहां कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

काल–विभाजन में मुख्य बात सही आधार की है। समान प्रकृति तथा प्रवृति को वर्ग विभाजन का सही आधार विद्वानों ने माना है। आचार्य शुक्ल अपने काल–विभाजन में प्रवृत्ति को ही मुख्य आधार बना कर चले हैं उस समय से लेकर जिस समय तक अधिकाधिक ग्रंथों में जो प्रवृत्ति प्रधान रही। उसी के आधार पर उन्होंने हिन्दी तथा विभिन्न कालों का निर्धारण किया। डॉ. नगेन्द्र कुछ ऐसा ही मत प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं – 'वर्ग विभाजन प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त होकर अस्तव्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेते हैं जिस प्रकार प्रवाह के अन्दर धाराएं होती हैं, उसी प्रकार इतिहास में भी अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, और प्रवृत्तियों का आदि अन्त या उतार चढ़ाव ही इतिहास का काल विभाजन अर्थात् विभिन्न युगों की सीमाओं का निर्धारण होता है। यह वर्ग विभाजन परिपूर्ण नहीं हो सकता, इसका रूप प्रायः स्थूल और अनुमानिक होता है, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने में इससे बड़ी सहायक मिलती है। आचार्य शुक्ल ने प्रवृत्ति–विशेष को आधार बनाकर हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार काल खण्डों में विभाजित किया जो इस प्रकार है 1. आदिकाल, 2. पूर्वमध्य काल 3. उत्तर मध्यकाल 4. आधुनिक काल। परन्तु यह वर्गीकरण स्थूल ही है, इसलिए इसे पूर्ण सार्थकता प्रदान करने के लिए उन्होंने इस काल खंडों के क्रमशः वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा मध्काल नामों से अभिहित किया। साथ ही इनकी सीमा रेखाएं भी निर्धारित की – सम्वत् 1050 से 1375 तक वीरगाथा काल, 1375 से 1700 तक भक्तिकाल, 1700 से 1900 तक रीतिकाल तथा 1910 से आगे गद्यकाल। शुक्ल जी ने भक्ति तथा आधुनिक काल का उपखण्डों में विभाजित कर अध्ययन को सरल एवं स्पष्ट करने का प्रयास भी किया। भक्तिकाल के साहित्य को निर्गुण एवं सर्गुण दो धाराओं में विभाजित करते हुए पूर्णतः निर्गुण धारा का अध्ययन ज्ञानाश्रयी शाखा एवं प्रेमाश्रयी शाखा तथा सगुण धारा का अध्ययन राम भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा दो–दो उपवर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार 'आधुनिक काल' को पहले उन्होंने दो खण्डों गद्य एवं खण्ड में विभाजित किया पुनः प्रत्येक खण्ड का अध्ययन तीन–तीन उपखण्डों में विभाजित कर प्रस्तुत किया – प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान। इन उपखण्डों का सीमा निर्धारण भी किया – स. 1925 से 1950 तक प्रथम उत्थान सं. 1970 से 1975 तक द्वितीय

उत्थान तथा सं. 1975 से आगे तृतीय उत्थान। प्रथम तथा द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी दिया है कि इन्हें क्रमश 'भारतेन्दु युग' एवं द्विवेदी युग भी कहा जा सकता है तीसरे उत्थान को सम्भवत् उनके प्रवाहमान रूप के कारण उन्होंने कोई नाम नहीं दिया।

आचार्य शुक्ल जी ने उपर्युक्त काल विभाजन की समीक्षा भी पर्याप्त हुई। सर्वप्रथम विभिन्न कालों का सीमा–निर्धारण दोषपूर्ण पाया गया है। वीरगाथा काल की प्रारम्भिक सीमा उन्होंने सं. 1050 मानी है, जबकि इस समय के आसपास की किसी भी रचना का वे प्रमाण नहीं दे सकें। इस काल की अंतिम स. 1375 है, जिसमें विद्यापति को सम्मिलित कर लिया है, जबकि विद्यापति का रचना काल सं. 1460 के आसपास है, भक्तिकाल का प्रारम्भ सं. 1375 से मानते हुए भी वह एक ऐवे कवि का प्रमाण नहीं दे पाए है, जिसका रचनाकाल इस सीमा रेखा के आसपास हो। इसी प्रकार रीतिकाल का प्रारम्भ इन्होंने सं. 1700 से स्वीकार किया है, जबकि रीति ग्रंथों की परम्परा सं. 1800 से उपलब्ध होती है। आधुनिक काल के 1900 से 1925 तक ही अवधि को उन्होंने उपविभाजित कर दिया है। दूसरा आरोप 'वीरगाथा काल' एवं 'रीतिकाल' नामों के औचित्य से सम्बन्धित है, जिस पर आगे विचार करेंगे। एक दोष यह भी पाया गया कि कालक्रम की दृष्टि से कृष्ण भक्ति शाखा, राम भक्ति शाखा के पूर्व आनी चाहिए, क्योंकि सूरदास का समय तुलसीदास से पूर्व है यह भी कहा गया है कि आधुनिक काल के उपविभाग में उन्होंने आधार की एकरूपता अर्थात् प्रवृति विशेष को अवहेलित कर दिया है। छोटे मोटे दोष तो अनेक हैं यथा डॉ. कृष्णालाल के मत में 'ज्ञानाश्रयी शाखा' नाम उचित नहीं, क्योंकि संतों को ज्ञान का केवल आभास था तथा 'प्रेमाश्रयी शाखा' का काव्य इश्क हकीकी न होकर इश्क मिज़ाज़ी है आदि, यद्यपि उन्होंने स्वयं प्रकारान्तर से शुक्ल जी का मत मान भी लिया है।

शुक्ल जी के उपरान्त डॉ. श्याम सुन्दर दास, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, डॉ. नगेन्द्र आदि विद्वानों तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा आदि कुछ एक समस्याओं द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखक का कार्य सम्पन्न हुआ। परन्तु काल–विभाजन की दृष्टि से किसी को भी कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। डॉ. श्याम सुन्दर दास ने शुक्ल जी के काल विभाजन को स्वीकार किया। उन्होंने प्रवृत्ति से सम्बन्धित आद्यान्त साहित्य को एक काल में समाहित कर लिया यथा, वीररस से सम्बन्धित हिन्दी साहित्य को 'वीर गाथा' काल में समाहित कर लिया। ऐसा करना विद्यार्थियों के लिए तो लाभदायक अवश्य सिद्ध हुआ परन्तु इससे काल विभाजन की वैज्ञानिकता नष्ट हो गई। डॉ. रामकुमार वर्मा के काल विभाजन में भी दो मौलिकताएं हैं। उन्होंने 'सन्धि–काल' नामक (सं. 750–1050) तक एक और काल की वृद्धि की, जो विद्वानों की दृष्टि में अनावश्यक मानी गई, दूसरे 'वीरगाथा काल' के स्थान पर उन्होंने 'चारणकाल' नाम स्वीकार नहीं हो सका। डॉ. द्विवेदी के काल विद्वान् के काल विभाजन में जो मौलिकताएं उपलब्ध होती हैं वे इस प्रकार है 1. वीरगाथा काल का नाम आदिकाल ही स्वीकार करना। 2. आदिकाल की सीमा सन् 1000 से 1400 तक स्वीकार करना। 3. भक्तिकाल को ईसा की सोलहवीं सदी के मध्य तक ही स्वीकार करना। 4. रीतिकालीन–साहित्य की रीतिबद्ध, रीतियुक्त तथा रीति मुक्त तीन नामों से तीन भागों में विभाजित करना आदि। द्विवेदी जी की अधिकांश स्थापनाएं विद्वानों को भी मान्य न हुईं, केवल भक्ति काल को सम्वत् 1600 तक सीमित करना मान्य नहीं हुआ, क्योंकि ऐसा करने से सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तिकालीन कवि 'रीतिकाल' से चले जाते हैं। परन्तु द्विवेदी जी के काल विभाजन की रूपरेखा शुक्ल जी के अनुरूप ही अधिक रही। डॉ. नगेन्द्र के आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल नामों के साथ चार काल ही स्वीकार किए, जिनका समय क्रमशः ईसा की सातवीं सदी से मध्य से चौदहवीं सदी के मध्य से सत्राहवीं सदी के मध्य तक,

सत्राहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक तथा उन्नीसवीं सदी के मध्य से अब तक निर्धारित किया, उन्होंने आधुनिक काल को निम्न उपकालो में विभाजित किया :

1. पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु युग) (1857-1900 ई. तक)
2. जागरण सुधार काल (द्विवेदी युग) (1900-1918 ई. तक)
3. छायावाद काल (1918-1938 ई. तक)
4. छायावादोत्तर काल (1938 से अब तक)

   पुनः छायावादोत्तर काल को दो भागों में विभाजित किया गया –

5. प्रगति–प्रयोग काल (1938-1953 ई. तक)
6. नवलेखन काल (1953 से अब तक)

डॉ. नगेन्द्र ने काल विभाजन में ऐतिहासिक कालक्रम तथा साहित्य विधा दोनों का आधार ग्रहण किया है। वास्तव में वह आधार की दृष्टि से समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं। अन्य विद्वानों के काल विभाजन में कोई मौलिकता देखने को नहीं मिलती। इस दिशा में कोई विशेष मान्यता किसी भी विद्वान् के काल विभाजन को प्राप्त नहीं हुई। शुक्ल जी का काल विभाजन ही कुछ परिवर्तन के साथ सर्वाधिक प्रचलित है। सरलता और स्पष्टता उसका विशेष गुण है।

शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित चार कालों में से भक्ति काल तथा 'आधुनिक काल' नामकरण तो प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिए, परन्तु 'वीरगाथा काल' तथा 'रीतिकाल' विवादास्पद बने। वीरगाथा काल नामकरण पर मुख्य आपत्ति यह उठाई गई कि जिन रचनाओं के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया, उनमें से अधिकांश या तो अप्रमाणिक हैं अथवा कुछ परवर्ती काल की हैं, अथवा अप्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति उठाई गई कि उन्होंने अपभ्रंश की जिन रचनाओं को साहित्यिक श्रेणी में लेने से इन्कार कर दिया, उन्हें उसी प्रकार साहित्यिक मानना चाहिए जैसे कबीर, सूर, तुलसी आदि की रचनाओं को। आदिकाल की परिनिष्ठत अपभ्रंश की रचनाओं में धर्म तत्व की प्रधानता है। अतः 'वीरगाथा काल' आदि विभिन्न नामकरण सुझाए गए, जिनमें आदिकाल नामकरण को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई। आदिकाल के नामकरण पर आगे विस्तार से विचार किया जाएगा। रीतिकाल नामकरण पर यह आरोपण हुआ कि एक तो इस काल के अन्तर्गत बोधा, सूदन, लाल, घनानंद, वृन्द, गिरिधर आदि अनेक कवियों द्वारा रचित काव्य में रीति–तत्व का सर्वथा अभाव है और दूसरे काल रचित काव्य में शृंगार काल नामकरण भी मान्य न हो सका। सम्भवतः इसका कारण यह है कि शृंगार मानव–मन की शाश्वत प्रवृत्ति है, उसे एक काल विशेष तक सीमित रखना उचित न होगा। इस काल में भी 'कला युग', 'काव्य विलास युग' अलंकृत काल, आदि विभिन्न नामों के सुझाव कुछ विद्वानों ने दिये, परन्तु शृंगार काल नामकरण भी मान्य न हो सका। अन्त में रीतिकाल नामकरण ही स्वीकार्य हुआ। डॉ. नगेन्द्र के मत में 'हमारा विचार है कि जिस युग में रीति तत्व का समावेश केवल शृंगार में ही नहीं, भक्ति काव्य और वीर काव्य में हो गया हो अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप ही बहुत कुछ रीतिबद्ध हो गया हो। उसका नाम रीतिकाल ही अधिक समीचीन है।' इसके विकल्प रूप में शृंगारकाल में अतिव्याप्ति है क्योंकि शृंगार का प्राधान्य तो प्रायः सभी युगों में रहा है। वह काव्य का एक प्रकार से सार्वभौम तत्व है, अतः उसके आधार पर नामकरण अधिक संगत नहीं होगा। इसके युग का शृंगार रीतिबद्ध था अतः रीति ही यहां प्रमुख है। इस काल के नामकरण पर विस्तारपूर्वक विचार आगे पाठ के अन्तर्गत

किया जायेगा।

शुक्ल जी के कुछ उपकालों के नामकरण पर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। भक्ति काल की निर्गुणधारा को ज्ञानाश्रयी शाखा उपवर्ग का नामकरण डॉ. कृष्णलाल को अनुचित प्रतीत हुआ। उसके मत में संत निरक्षर थे और उन्हें ज्ञान न होकर ज्ञान का मात्रा आभास था। उन्होंने 'ज्ञानभाषाश्रयी शाखा' नामकरण सुझाया, जो टकसाली सिक्के में प्रचलित न हो सका। 'आधुनिक काल' के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान नामकरण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यहां आधार की एकरूपता नष्ट हो गई है। शुक्ल जी के ये नाम प्रवृत्ति सूचक नहीं हैं। यदि इन्हें भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि कहा जाए तो भी यही दोष पाया गया। डॉ. नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादत पुनर्जागरण काल, जागरण सुधार काल, छायावाद काल आदि नामों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। इस दृष्टि से डॉ. नगेन्द्र का कहना है कि नामकरण के प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करना संगत है किन्तु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्य चेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा ही संभव है। यह मानकर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यतः नाम संकेत मात्रा होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीत हो सकता है, किन्तु पूर्ण बिम्ब तो वह नहीं हो सकता। अतः यह कह सकते हैं कि नामकरणों में मिश्रित आधार को ग्रहण करने में कोई अनौचित्य नहीं। परन्तु नामकरण ऐसा अवश्य होना चाहिए जो युग की साहित्य चेतना का सही प्रतिनिधित्व अवश्य करता हो।

1.3.3.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवं नामकरण विषय पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

1.3.4 सारांश :

प्रत्येक विषय के समान साहित्य का भी इतिहास होता है। इतिहास शब्द से राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास का बोध होता है, किन्तु वास्तवितकता यह है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध इतिहास से अवश्य होता है। इतिहास का शाब्दिक अर्थ है – ऐसा ही था, ऐसा ही हुआ। इसका संबंध अतीत की प्रत्येक स्थिति, घटना, प्रक्रिया इत्यादि से भी होता है। इतिहास को लेखक विभिन्न विद्वानों के विभिन्न दृष्टिकोण है। भारतीय विद्वानों ने घटनाओं एवं क्रिया–किलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके सबके हित की दृष्टि से अधिक की। पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रभावित रहे। आधुनिक युग में नवीन दृष्टिकोणों को आधार बनाकर साहित्य के इतिहास का विवेचन–विश्लेषण किया जाता है।

1.3.5 लघु प्रश्न :

1. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन से आपका क्या अभिप्राय है ?
2. हिन्दी साहित्य के इतिहास को कितने भागों में बांटा जाता है ?

1.3.6 सहायक पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य – सं. डॉ.धीरेन्द्र वर्मा
2. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां – डॉ. शिव कुमार शर्मा
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

पाठ संख्या : **1.4**

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

इकाई की रूपरेखा :

1.4.0 उद्देश्य
1.4.1 प्रस्तावना
1.4.2 आदिकाल का नामकरण
1.4.3 आदिकाल की सीमा रेखा
1.4.4 आदिकाल की परिस्थितियां
1.4.5 आदिकाल की प्रवृत्तियां
1.4.6 आदिकाल गद्य साहित्य
1.4.7 काव्यधाराएं और उनकी प्रवृत्तियां
1.4.8 आदिकाल की पृष्ठभूमि
1.4.8.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.4.9 सारांश
1.4.10 लघु प्रश्न
1.4.11 सहायक पुस्तकें

1.4.0 उद्देश्य :

प्रख्यात आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल को 'आदिकाल' नाम प्रदान किया है। उनके कथनानुसार – 'वास्तव में आदिकाल ही ऐसा नाम है, जिसे किसी–न–किसी रूप में सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है तथा जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहास की भाषा, भाव, विचारणा, शिल्पभेद आदि से सम्बद्ध सभी गुत्थियां सुलझ जाती हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्याम सुन्दरदास और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के मत का समर्थन करते हुए हम हिन्दी साहित्य का आरंभ सं. 1050 से 1375 को स्वीकारते हुए इसे आदिकाल के नाम से जानते हैं। इस पाठ के अध्ययन के बाद आप अग्रलिखित बातों की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे –

1) आदिकाल के नामकरण से संबंद्ध विभिन्न विद्वानों के मतों से परिचित हो सकेंगे।

2) आदिकाल की सीमा रेखा निर्धारित कर पाएंगे।

3) आदिकालीन परिस्थितियों से अवगत हो जाएंगे।

1.4.1 प्रस्तावना :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर प्रारम्भिक काल का नामकरण किया उनके सम्बन्ध में नवीनतम खोजों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनमें से अधिकांश ग्रंथ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं। 'खुमान रासो' वीरगाथा काल की नहीं, अपितु सं. 1730 और 1760 के बीच की रचना है। हम्मीर रासो कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं है, अपितु नोटिस मात्रा है। पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो का वर्तमान संदिग्ध है। जयचन्द्र प्रकाश और जयमयंक – जय चन्द्रिका (मधुकर) के विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। दयाल दास रचित 'राठौड़ां री ख्यात' की हस्तलिखित प्रति में इन पुस्तकों का उल्लेख मात्रा हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन नौ पुस्तकों के आधार पर इस काल को वीर गाथा काल कहा है उनमें से उपर्युक्त छः पुस्तकें प्रारम्भिक काल के नामकरण के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। इनके आधार पर इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तिक का निर्धारण नहीं हो सकता।

आधुनिक खोजों के आधार पर हिन्दी साहित्य के आदिकाल के लिए शुक्ल जी द्वारा दिया गया नाम वीरगाथा काल एकांगी तथा अनुपयुक्त ही सिद्ध होता है।

1.4.2 आदिकाल का नामकरण :

हिन्दी साहित्येतिहास के कालों के नामकरण में आदिकाल सर्वाधिक विवादास्पद रहा है। सर्वप्रथम डॉ. ग्रियर्सन ने इस काल का नामकरण 'चारण काल' किया, जिसका समर्थन डॉ. राम कुमार वर्मा ने भी किया। तदोपरांत मिश्र बन्धुओं ने इस काल को 'प्रारम्भिक काल', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीर गाथा काल', महावीर प्रसाद, द्विवेदी जी ने 'बीजवपन काल', राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध सामन्त काल' तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदिकाल' कहना उचित समझा।

मिश्रबन्धुओं का प्रारम्भिक काल नाम एक सामान्य संज्ञा मात्रा है। इससे तत्कालीन काव्य प्रवृत्ति का कोई बोध नहीं होता। मिश्रबन्धुओं के उपरान्त आचार्य शुक्ल जी ने अधिकांश ग्रंथों में व्याप्त मुख्य प्रवृत्ति के आधार पर आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नामकरण किया और इस काल की सीमा सं. 1050 से 1375 अर्थात् सन् 993 से 1318 ई. तक निर्धारित की। उनका कहना है कि आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्षों के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता। धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढाइयों का आरंभ होता है, जब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति को एक विशेष रूप से बंधा पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। सही प्रबन्ध परम्परा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 51) शुक्ल जी ने आदिकाल के नामकरण में इस काल को दो प्रकार की साहित्यक सामग्री को ग्रहण किया। एक तो परिनिष्ठ अपभ्रंश की रचनाएं (विजयपाल रासो, 'हम्मीर रासो', कीर्तलता' तथा 'कीर्ति पताका') तथा दूसरी देशभाषा की रचनाएं (पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, खुमान रासो, बीसल देव रासो, जयमंयक, जयचन्द्रिका, जयचन्द्र प्रकाश, खुसरो की पहेलियां तथा विद्यापति की पदावली इन बारह रचनाओं

में से बीसल देव रासो, खुसरों की पहेलियां तथा अनन्ययोग जम्बू स्वामी रासो, रैवतगिरी रासो, नेमिनाथ चौपई) को यह कहकर छोड़ दिया कि इनमें से अधिकांश रचनाएं धर्म तत्व निरूपण सम्बन्धी अथवा योग सम्बन्धी हैं, कुछ नोटिस मात्रा हैं। वे तो यहां तक कहते हैं कि यदि इन्हें ग्रहण भी कर लिया जाए तो उनके वीरगाथा काल नामकरण के औचित्य पर कोई आंच नहीं आती।

परन्तु डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि अनेक विद्वानों ने इस नाम को सर्वथा अनुचित माना। डॉ. द्विवेदी का कहना है कि जिन रचनाओं को शुक्ल जी ने धर्म तत्व निरूपण सम्बन्धी कहा है, यदि उन्हें साहित्यिक नहीं माना जाता तो कबीर, तुलसी आदि की रचनाओं को भी साहित्यिक नहीं मानना चाहिए। डॉ. द्विवेदी यह भी कहते हैं कि शुक्ल जी के समय तक 'प्राकृत पैंगलम', 'सन्देशरासक', 'शब्दानुशासन', 'परमात्माप्रकाश' आदि अनेक रचनाएं प्रकाश में नहीं आ सकी थीं। आदिकाल की इस विशाल साहित्यिक सामग्री के आलोक में वीरगाथा काल उचित नहीं रह पाया। इस कारण नामकरण पर द्विवेदी जी का दूसरा आरोप यह है कि शुक्ल जी ने रचनाओं के आधार पर नामकरण किया है, उनमें से अधिकांश अप्रामाणिक अथवा अर्द्धप्रमाणिक हैं तथा नोटिस मात्रा है। जैसे– 'जयमयंकजसचन्द्रिका', 'जयचन्द्र प्रकाश' आदि तथा कुछ 'विद्यापति की पदावली' 'कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका' बाद की रचनाएं हैं। मोती लाल मेनारिया के इस मत का कि वीरता की प्रकृति राजस्थान के किसी काल विशेष की मुख्य प्रकृति नहीं है, वहां आज भी वीरता की प्रकृति मुख्यतः प्रचलित है – समर्थन करते हुए भी वह 'वीरगाथा काल' नाम को अनुचित मानते हैं। अन्य विद्वानों में डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश आदि भी डॉ. द्विवेदी के मत का समर्थन करते हुए 'वीरगाथा काल' नाम को समयक नहीं मानते।

राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रतिपादित 'सिद्ध–सामन्तकाल' नामकरण से सिद्ध और सामन्त दो विभिन्न वर्गों के सूचक शब्द हैं। सिद्ध लेखकों का सूचक शब्द है और 'सामन्त' रचना प्रेरकों का। अतः यह संयोग अथवा समास उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त इन नामों में नाथों, जैनों, विद्यापति, खुसरो आदि की रचनाओं का समावेश नहीं हो पाया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'बीजवपन काल' भी मान्यता प्राप्त नहीं कर सका। यह नाम अस्पष्ट तथा विचित्रा तो है कि साथ ही असंगत भी है क्योंकि आदिकाल परम्परा प्रेमी, रूढ़िगस्त किन्तु सचेत कवियों का कल है। इसे अपरिपक्व कवियों का काल कहना सर्वथा अनुचित है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित 'वीरकाल' नाम शुक्ल जी के नाम का ही प्रकारान्तर है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी भाषा और काव्य को ध्यान में रखते हुए इसका नाम 'आदिकाल' मानते हैं। क्योकि इस काल का नामकरण विशेष प्रवृत्ति के आधार पर नहीं हो सकता। डॉ. नगेन्द्र भी द्विवेदी जी से सहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं कि – 'जो साहित्य इस समय लिखा गया उसमें सामन्तीय और धार्मिक तत्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर इसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदिकाल जैसे निर्विशेष नामों जो भाषा और साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था मात्रा का चेतन करता है, विद्वानों को अधिक मान्य है और मैं समझता हूं कि इसका कोई विकल्प नहीं है।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 26-27) 'आदिकाल' नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है, जिससे सावधान करते हुए डॉ. द्विवेदी लिखते हैं – 'वस्तुतः हिन्दी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव उत्पन्न करता है कि यह काल कोई आदिम भाव, परम्परा विनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िगत और सजग और सचेत कवियों का कल है।' यह नियम भाषा विकास की स्थिति विशेष सूचक है। यद्यपि सूचक की दृष्टि से यह परिनिष्ठत अपभ्रंश से आगे बढ़ी भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य–रूप अंकुरित हुए हैं।

आज प्रायः सभी विद्वान् किसी प्रामाणिक और सुगठित नामकरण के अभाव में 'आदिकाल' के ही पक्षपाती हैं। वैसे

कुछ विद्वान् 'वीरगाथा काल' नाम के भी समर्थक हैं क्योंकि वीरता की प्रवृत्ति को इस काल में सर्वाधिक व्याप्त माना गया है। स्वयं द्विवेदी जी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं – 'परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। इस काल में वीररस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परन्तु यह नाम क्योंकि नाथपंथी, सहजयोगी सिद्धों तथा जैनमुनियों की भावापन्न कविताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसलिए 'आदिकाल' नाम को अधिक मान्यता प्राप्त है।'

1.4.3 आदिकाल की सीमा रेखा :

वस्तुतः आदिकाल सर्वाधिक विवादास्पद काल रहा है। इस काल के नामकरण, भाषा, रचनाओं की प्रामाणिकता एवं अन्तिम सीमा–रेखांकन आदि से सम्बन्धित समस्याएं आज भी पूर्णतः सुलझ पाई हैं। नामकरण पर पीछे विचार कर आए हैं, यहां इस काल की प्रारम्भिक तथा अन्तिम सीमा रेखा पर विचार करेंगे, क्योंकि यह समस्या भाषा–रूप से सम्बद्ध हैं, अतः पहले उस पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक होगा।

जब किसी भाषा से दूसरी भाषा का विकास होता है तो पर्याप्त समय तक भाषा का नवीन विकसित रूप पुराने को ग्रहण किया रहता है। हिन्दी का प्रारम्भिक रूप ही इसका अपवाद नहीं। हिन्दी का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ। अतः स्वाभाविक था कि उसके प्रारम्भिक रूप में अपभ्रंश का पुट रहता। इसी प्रारम्भिक रूप को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' कुछ ने 'अवहट्ट' और कुछ ने पुरानी हिन्दी का नाम दिया। आचार्य शुक्ल जी उसे 'प्राकृताभास हिन्दी' कहते हैं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं थी। हिन्दी–साहित्येतिहास प्रारम्भिक लेखक अपभ्रंश और हिन्दी के बीच अन्तर को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाए। आचार्य शुक्ल के प्राकृताभास हिन्दी देशभाषा तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश, शब्द भांति ही उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी भी इस विषय में पूर्ण स्पष्ट नहीं हैं ओर तो वे लिखते हैं कि 'इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ावा है। इसी अपभ्रंश के बढ़ावे को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं, कुछ पुरानी हिन्दी। तो दूसरी ओर इसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि तेरहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम् शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। अपने दूसरे कथन में वह पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश कह रहे हैं और साथ ही उसे अपभ्रंश से पृथक् भी मान रहे हैं। इस तरह प्रारम्भिक हिन्दी का भिन्न–भिन्न नामों से अभिहित करना समस्या को उलझाना ही है। जब सभी उसे अप्रत्यक्षतः हिन्दी ही मानते हैं तो उसे अन्य नामों से पुकारना कहां तक उचित होगा? वास्तव में उसे हिन्दी ही कहना होगा। द्विवेदी जी ने तत्समता को हिन्दी की विशिष्टता कहां है। अतः जिन रचनाओं में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, उन्हें हिन्दी की रचनाएं ही कहना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी का प्रथम कवि किसे माना जाए। ठाकुर शिव सिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न 'पुण्य' या 'पुष्प' नामक कवि को प्रथम कवि माना था, परन्तु इस कवि की अभी तक कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है। डॉ. द्विवेदी इसे पुण्य नहीं, पुष्यदन्त मानते हैं, और उसका समय दसवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल आदि विद्वान् सिद्ध सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं सरहपाद की रचनाओं की भाषा में तत्समता की प्रवृत्ति भी मिलती है और साथ ही उनकी भाव–धारा एवं चिन्तन पहले नाथ–पंथियों में तथा बाद मे हिन्दी के भक्ति–कालीन कवियों में विकसित होते दिखाई देता है। किन्तु सरहपाद के समय के विषय में मतभेद है। राहुल जी उनका समय 769 ई. मानते हैं तथा डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य 633 ई. को। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त शालिभद्र सूरी को हिन्दी का प्रथम कवि और उनकी रचना 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' को हिन्दी का प्रथम काव्य मानते हैं। परन्तु शलिभद्र सूरि को विद्वानों ने अपभ्रंश का कवि माना, हिन्दी का

नहीं। आज अधिकांश विद्वान् सरहपाद को ही हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं और उसका समय 769 ई. स्वीकार करते है।

अतः यह कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का आरंभ 769 ई. अर्थात् आठवीं शताब्दी से मानना उपयुक्त होगा परन्तु आचार्य राचमन्द्र शुक्ल सन् 933 से और डॉ. हजारी द्विवेदी सन् 1000 ई. से आदिकाल का प्रारम्भ मानते हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास आदि कुछ अन्य विद्वान् भी इसी मत के समर्थक रहे हैं। डॉ. यामसुन्दर दास आदि कुछ अन्य विद्वान् भी इसी मत के समर्थक रहे हैं। साथ ही ये सभी विद्वान् आदिकाल के अन्तर्गत सरहपा (सरहपाद) आदि को ही नहीं अपितु अपभ्रंश के कुछ काव्य को भी ले लेते हैं। साथ ही ये विद्वान् आदिकाल के नामकरण में परिनिष्ठत उपभ्रंश की चार रचनाओं को आधार रूप से ग्रहण किया हैं तथा वह आदिकाल में सरहपाद देवसेन आदि कवियों का परिचय भी देते हैं। यद्यपि डॉ. द्विवेदी जी अपभ्रंश साहित्य का विवेचन आदिकाल से पूर्व एक पृथक् अध्याय में करते हैं, तथापि वे अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की ही रचनाएं मानते हैं। शुक्ल जी के 'वीरगाथा काल' नाम से अनौचित्य को सिद्ध करते हुए वे लिखते हैं – फिर इधर अनेक अज्ञातपूर्व काव्यों का पता चला है जो पर्याप्त महत्वपूर्ण है। नामकरण के समय शुक्ल जी के सामने ये पुस्तकें नहीं थीं। परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। किन्तु इसी काल में या इससे पूर्व से ही नाथपंथी और सहजयानी सिद्धों तथा मुनियों की निर्गुणिता भावसम्पन्न कविताएं भी प्राप्ति होती हैं। इन रचनाओं का महत्व पहले दिखाया जा चुका है। सातवीं–आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। इस प्रकार वे भी आदिकाल का प्रारंभ सातवीं–आठवीं शताब्दी से अप्रत्यक्षतः मान लेते हैं।

आदिकाल की अन्तिम सीमा का प्रश्न भी विवादास्पद है। डॉ. ग्रियर्सन आदिकाल की अन्तिम सीमा सन् 1400 मिश्रबन्धु सन् 1389, आचार्य शुक्ल सन् 1318 ई., डॉ. रमाशंकर शुक्ल रसाल सन् 1343 तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी सन् 1400 ई. मानते हैं। अधिकांश विद्वान् शुक्ल जी से सहमत हैं। परन्तु शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित अन्तिम सीमा–रेखा सही नहीं है। शुक्ल जी ने विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत रखा है, जबकि उनका रचनाकाल सन् 1375 से 1418 के मध्य पड़ता है। दूसरे भक्तिकाल के प्रथम कवि कबीर का जन्म 1398 में हुआ। यदि सन् 1400 को आदिकाल की अन्तिम सीमा मान लिया जाए, तो एक और विद्यापति भी आदिकाल के अन्तर्गत सरलता से लिए जा सकेंगे और भक्तिकाल का प्रारंभ भी अधिक संगत तथा युक्तियुक्त कहा जा सकेगा।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि आदिकाल की सीमा सन् 769 से 1400 तक मानना उचित एवं सम्यक् होगा।

1.4.4 आदिकालीन परिस्थितियाँ अर्थात् परिवेश

साहित्य मानव समाज की भावनात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि किसी भी काल के साहित्य को समझने के लिए नद्रयुगीन परिवेश को देखना अत्यन्तावश्यक है। आदिकालीन साहित्य पर विचार करने से पूर्व इस युग की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों को स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

राजनैतिक परिस्थिति :

राजनीतिक दृष्टि से यह समय युद्धों, आन्तरिक कलहों, पराजय तथा अव्यवस्था का युग है। इस समय मुसलमानों के आक्रमण भारत पर हो रहे थे और भारतीय शासकों की सारी शक्ति इन आक्रमणों का मुकाबला करने में लगी रही। ईसा की सातवीं शताब्दी में होने वाले अन्तिम वर्द्धन सम्राट् हर्षवर्धन के शासनकाल में ही उत्तरी भारत पर यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। हर्षवर्धन ने अत्यन्त दृढ़ता से उनका मुकाबला किया। उनका सारा समय

इन आक्रमणों के प्रतिरोध में ही बीत गया। अन्ततः उनकी मृत्यु के उपरान्त वर्द्धन साम्राज्य भी लड़खड़ा गया तथा भारत की संगठित राज्य सत्ता भी छिन्न–छिन्न हो गई। सन् 710 ई. में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध में आक्रमण किया। सिंध का शासन दाहिर जाटों का सहयोग न पाने के कारण पराजित हो गया। सन् 739 में अरब सेना कच्छ, दक्षिण मारवाड़, उज्जैन तथा उत्तरी गुजरात को रौंदती हुई दक्षिण गुजरात तक पहुंच गई जहां चालुक्य सेनापति ने अरब सेना का पूर्णतः विनाश कर दिया। इस तरह अरब सिंध तक ही सीमित रह गए। नौंवी शताब्दी में बिहार वंशी राजा भोज ने बिखरी हुई राज्य शक्तियों को फिर से समेटा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद फिर से पहले जैसी दशा हो गई। ईसा की नवम् शताब्दी तक इसी कारण मुसलमान पश्चिम भारत में प्रवेश नहीं कर सके। दसवीं शताब्दी के अन्त में गजनवी का राज्य जब महमूद गजनवी के हाथ में आ गया तो उसने पंजाब और कांगड़ा को जीतने के बाद अन्तर्वेद पर आक्रमण कर दिया। तदुपरान्त उसे मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर, सौराष्ट्र, बनारस आदि के मन्दिरों को लूटा और इन नगरों को पद्दलित किया। दक्षिण भारत को चोलराज राजेन्द्र इन्हीं दिनों पूर्वी भारत में राज्य का विस्तार कर रहा था। वह यदि गजनवी का मुकाबला करता तो इतनी लूटमार न कर पाता। ग्यारवीं–बारहवीं शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान तथा कन्नौज में गाहड़वालों का सशक्त राज्य अवश्य था। परन्तु उनमें एकता का अभाव था। चौहान वंश होसलेदव (अजमेर के शासक) ने अन्य यवनों को पंजाब के पीछे धकेल दिया था। इसी समय गजनवी में तुर्कों का विनाश कर मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया। उसने पृथ्वी राज चौहान को हरा कर एक एक करके कन्नौज तथा कालिंजर को भी जीत लिया। राजपूतों की परस्पर आपसी फूट के कारण उत्तरी भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। यद्यपि भारतीय शासक शक्तिशाली अवश्य थे, परन्तु संगठित नहीं थे और पड़ोसी राज्यों के प्रति न केवल उदासीन थे, वरन् ईर्ष्या द्वेष से भी ग्रस्त थे। उनकी राष्ट्रीयता संकुचित थी। भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित था। भारतीय शासक धर्मयुद्ध करते थे। युद्ध में 'छलकपट' का प्रयोग नहीं करते थे। जबकि यवन शासक छलकपट के प्रयोग से झिझकते नहीं थे। इन कारणों से हिन्दू राज्य सत्ता नष्ट हो गई और प्रायः सम्पूर्ण भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू राज्य सत्ता का शनैः पतन हो गया और इस्लाम सत्ता का धीरे–धीरे उदय होता गया। यवनों के आक्रमण का प्रभाव मुख्य रूप से पश्चिमी उत्तरी भारत तथा मध्य भारत पर ही पड़ा था। यही कारण है कि इन प्रान्तों में विकसित साहित्य पर आक्रमणों के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी का विकास इन्हीं प्रांतों में हो रहा था। अतः इस कालाविधि में रचित हिन्दी साहित्य उन मनः स्थितियों का परिचालक है, जो स्वाभिमानपूर्वक जीवित रहने के लिए युद्ध करने के लिए विवश थे। दूसरा वर्ग संसार से विरक्त हो तत्व चिन्तन में लीन हो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगा था। हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, परमाल रासो आदि अन्य ग्रंथ जहां प्रथम मनः स्थिति के सूचक हैं, वहां नाथ साहित्य आदि दूसरी मनः स्थिति की उपज है।

धार्मिक परिस्थिति :

ईसा की सातवीं शताब्दी से पूर्व देश का धार्मिक वातावरण शान्त और सद्भावना पूर्ण था, परन्तु सातवीं सदी से धार्मिक अव्यवस्था का युग प्रारंभ हो चुका था। इस समय एक ओर बौद्ध पतनोन्मुख हो चुका था तो दूसरी ओर आलवार सन्त एक भक्तिमूलक धार्मिक आन्दोलन दक्षिण भारत से उत्तरी भारत की ओर ला रहे थे। तीसरे और वैष्णव धर्म उत्तरी भारत में अपना महत्व खोजा जा रहा था और जैन मत अथवा शैवमत प्रतिदिन अधिकाधिक प्रतिष्ठित होते जा रहे थे। शैव और जैन धर्म आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा में परस्पर टकराने लगे थे। बारहवीं शताब्दी में शैव मत अधिक प्रतिष्ठित होने लगा। जिसका कारण राजपूत शासकों का अहिंसा में विश्वास न करना था। अतः कलचूरी वंश पूर्णतः शैवमतानुयायी था। इसी वंश के प्रतापी शासक कर्ण के प्रभाव से काशी

शैव साधना का केन्द्र बन गया था। मालवा में वैदिक धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। राजपूतों के कारण ब्राह्मण धर्म का भी खूब बोलबाला था। अपनी शक्ति को क्षीण होते हुए देखकर बौद्ध धर्म भी रूप बदल–बदल कर अपनी जड़े मज़बूत करने में लगा हुआ था। बौद्ध धर्म की महायान शाखा ने तन्त्रा–मन्त्रा, जादू–टोने, ध्यान, धारा आदि के अनेक प्रभाव निम्न स्तर के हृदयों पर छाये हुए थे। जनता हिन्दू साधुओं की जितनी प्रतिष्ठा करती थी उतनी ही प्रतिष्ठा बौद्ध संन्यासियों की भी करती थी। इस तरह बौद्ध धर्म अपने मूल आदर्श को छोड़ता जा रहा था। वह तन्त्रा–मन्त्रा आदि के चक्कर में पड़ गया था। इसके महायान, वज्रयान, मन्त्रायान आदि अनेक भेद हो गए थे। कोई अलौकिक शक्तियो के प्रदर्शन में लीन था, कोई गुह्य साधना का प्रचार कर रहा था जो कोई नारियों के भोग को महत्व दे रहा था तथा उसका आत्मविश्वास दुर्बल होता जा रहा था। जैन सम्प्रदाय भी इन तान्त्रिाकों की लपेट में आ चुका था। 'धार्मिक स्थानों की दुर्दशा हो चली थी। व्याभिचार, आडम्बर, अर्थ–लोभ आदि जिन दोषों का बौद्ध बिहारों में प्राधान्य हो चुका था, उन्हीं से हिन्दू–मन्दिर भी ग्रस्त हो चले थे। पुजारी एवं महन्त धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित होते जा रहे थे तथा अधिकार एवं धन संग्रह का भी परदा खुलता है।'

दूसरी ओर इस्लाम धर्म भी ताकत के बल पर पनप रहा था और उसके कारण हिन्दुओं की धार्मिक भावनाएं आहत होने लगी थीं। सभी मत अपने–अपने उद्देश्यों की पूर्ति में लगे थे। ईमानदारी से जनता को सही दिशा दिखाने वालों का उस समय अभाव था। हां भ्रमित जनता को प्रकाश देने वाली दार्शनिक लहर दक्षिण भारत से अवश्य जा रही थी जिसके प्रसारक शंकराचार्य थे।

जहां तक इस युग में रचित साहित्य पर धार्मिक प्रभाव का प्रश्न है, इस दृष्टि से जैन साहित्य, नाथ साहित्य तथा सिद्ध साहित्य तो निश्चय ही धार्मिक प्रभाव से प्रायः सर्वथा असम्पकृत रहा। इस काव्य में लौकिक पक्ष ही प्रबल रहा।

सामाजिक परिस्थिति :

वास्तव में आदिकाल राजनीतिक तथा धार्मिक आन्दोलनों का काल था और इस समय सामाजिक चेतना इस प्रकार से दबी पड़ी थी परन्तु वह इन आन्दोलनों के प्रभाव से वह मुक्त भी नहीं हो पाई थी। जनता शासन और धर्म दोनों का शिकार हुई थीं और दोनों ओर से वह निराश्रित हो चुकी थी। दोनों उसका शोषण कर रहे थे। तत्कालीन समाज छोटी–छोटी जातियों–उपजातियों में विभाजित था। छूआछात की भावना भी थी। जातिगत द्वेष इस समय अत्यन्त प्रबल था। व्यक्ति के भ्रष्ट होने पर समाज उसे अपनाता न था। हिन्दू–जाति अन्य जातियों को अपने में समा लेती थी। समाज में अनेक रूढ़ियां पनप रही थी। नारी केवल भोग की वस्तु थी। उसका क्रय–विक्रय तथा अपहरण सामान्य बात थी। सामान्य जन शिक्षा से सर्वथा वंचित थी। जीविका के साधन दुर्लभ होते जा रहे थे तथा निर्धनता बढ़ती जा रही थी। गृहस्थ योगियों से आंतकित थी। सती प्रथा का भयंकर अभिशाप जोरों पर था। राजपूतों में आत्मसम्मान् तथा स्वाभिमान की भावना अत्यन्त प्रबल थी। वे वीर और साहसी थे और मृत्यु को गले लगाना अच्छा समझते थे। नारी के कारण युद्ध भी हो जाया करते थे। स्वयंवर की प्रथा भी थी। राजपूत ईमानदार स्वामिभक्त तथा प्रतिज्ञापालक अवश्य थे, परन्तु उनमें दूरदर्शिता तथा कूटनीति का अभाव था। राजाओं में बहु विवाह की प्रथा थी।

सांस्कृतिक परिस्थिति :

हर्षवर्द्धन के समय तक भारतीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। उस समय तक स्वाधीनता तथा देशभक्ति के भाव दृढ़ थे और पारम्परिक सद्भाव व्याप्त थे। संगीत, मूर्ति, चित्रा, स्थापत्य आदि कलाओं ने खूब प्रगति की थी। इस समय मन्दिरों का निर्माण सबसे अधिक हुआ। भुवनेश्वर, सोमनाथ पुरी, कांची, तंजौर, वैलोर, खुजराहों आदि

स्थानों पर भव्य मंदिरों का निर्माण आदिकाल में प्रारंभ हुआ था। प्रायः सभी कलाओं में धार्मिक भावना की छाप थी। तद्युगीन स्थापत्य कला से अत्यन्त प्रभावित होकर अरब इतिहासकार अल्बरूनी ने लिखा है, 'वे (हिन्दू) कला के अत्यन्त उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मन्दिरों) देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं परन्तु मुसलमानों की ईर्ष्या ने इस वैभव पर कुठाराघात किया।'

जैसे–जैसे यवनों का प्रभाव बढ़ता गया वैसे–वैसे भारतीय संस्कृति का विघटन होने लगा। मुस्लिम तथा हिन्दु संस्कृतियों में टकराहट बढ़ी और दोनों एक–दूसरे को शंकालु नेत्राों से देखने लगे। यवनों के हाथ में राज्य–सत्ता आ जाने के कारण भारतीय संस्कृति का रंग भी गहरा होने लगा। भारतीय त्यौहारों, मेलों, खान–पान, वेश–भूषा, विवाह, मनोरंजन आदि पर इस्लाम संस्कृति की छाप पड़ने लगी। कला के क्षेत्रा में भी भारतीय परम्परा लुप्त होने लगी। सारंगी, तबला, अलगोजा आदि नये वाद्ययन्त्राों से भारतीय संगीत प्रभावित हुआ। गायन, वादन, नृत्य आदि पर इस विदेशी संस्कृति का प्रभाव पड़ा। परन्तु युद्धों के वातावरण के कारण ये कलाएं विशेष आदर न पा सकी। यवन साम्राज्य की स्थापना के बाद इन्हें महत्व मिलने लगा। हिन्दू राजा भी इन्हें प्रश्रय देने लगे। धीरे–धीरे भारतीय कलाकार अपनी प्राचीन शैली को भूलने लगे। मुसलमान क्योंकि मूर्तिपूजा के विरोधी थे, अतः मूर्ति पूजा का विकास तो रूका ही, साथ ही पुराने मन्दिर भी नष्ट–भ्रष्ट कर दिये गये। राजपूत शासकों को मूर्ति–कला के विकास का अवसर युद्धों के कारण प्राप्त न हो सका।

साहित्यिक परिस्थिति :

इस समय संस्कृति में भी अच्छा साहित्य लिखा गया। ज्योतिष, दर्शन, स्मृति आदि विषयों की टीकाओं के अतिरिक्त हर्ष का 'नेषध चरित' भोज का 'सरस्वती कंठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश' जैसे प्रसिद्ध संस्कृत–ग्रंथ इसी समय लिखे गये। राजा भोज की सभा ने पद्मगुप्त तथा धनिक जैसे विद्वान् थे। जयदेव जैसे कवि तथा कुन्तक, श्रेमेन्द्र, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि आचार्य इसी कालावधि में हुए। इसी काल में शंकर, कुमारलि भट्ट, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी प्रचुर साहित्य इस काल में रचा गया। जैनों तथा सिद्धों का साहित्य इसका प्रमाण है। सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोक–भाषा हिन्दी में रचनाएँ भी लिखी। देशभाषा अर्थात् हिन्दी से रचित साहित्य भी संस्कृति के कवि रचनात्मक प्रतिभा के उद्घाटन में तथा अपभ्रंश के कवि धर्मप्रचार में लीन थे। केवल हिन्दी ही एक ऐसी भाषा थी जो साहित्य से तत्कालीन परिस्थितियों को किसी न किसी रूप में उद्घाटित कर रही थी।

1.4.5 आदिकाल की प्रवृत्तियां एवम् काव्यगत विशेषताएं :

हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ संवत् 1050 वि. माना जाता है। संवत् 1050 से संवत् 1375 वि. तक के समय को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने 'आदिकाल', 'वीरगाथा काल', 'आरम्भिक काल', 'प्रारम्भिक काल', या 'उन्मेष काल', 'बीज–पवन काल', 'सिद्ध–सामन्त काल', 'अपभ्रंश काल', 'संधि काल', 'चारण काल', 'वीर रस काल', अन्धकार काल आदि अनेक संज्ञाओं से पुकारा है लेकिन 'आदिकाल' और 'वीरगाथा काल' नाम ही अधिक प्रचलित हो पाये हैं। विजयपाल रासो (चन्दरबरदाई), परमाल रासो आदि इस काल के रासो ग्रंथ हैं। विद्यापति कृत 'कीर्तिपताका' और 'विद्यापति पदावली' का भी इस काल के साहित्य में विशेष महत्व है। सिद्ध साहित्य जैन साहित्य और लोक साहित्य भी इस कालावधि में प्रचुर मात्राा में रचा गया है। प्रत्येक साहित्यक काल की कुछ सामान्य प्रवृत्तियां और काव्यगत विशेषताएं होती हैं। आगामी पंक्तियों में हम आदिकाल की कुछ सामान्य प्रवृत्तियां और काव्यगत विशेषताएं की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। आदिकाल और आदिकालीन काव्य की विशेषताएं अधोलिखित हैं :

1) वीर रस का प्राधान्य :

विवेच्य काल के साहित्य में वीर रस का प्राधान्य है जैसा कि इस काल के 'वीरगाथा काल' नाम से ही स्पष्ट है। इस काल के साहित्य में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। परवर्ती हिन्दी साहित्य में वीर रस का इतना पुष्ट रूप मिलना दुर्लभ है। सभी रासो ग्रंथ वीर रसात्मक ग्रंथ हैं। वीर रस के प्राधान्य का कारण यह था कि उस समय युद्ध के बादल चारों ओर मंडरा रहे थे देश छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित थे। इन राज्यों के शासक एक–दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे। ये युद्ध राज्य विस्तार की लालसा से या फिर एक दूसरे राजा की सुन्दर कन्या या रानी को छीनने के उद्देश्य से होते थे। 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि सभी ग्रंथों में युद्धों को मूल कारण रूपवती नारियां ही हैं उस समय के लोगों में व्याप्त वीरता का आदर्श निम्नांकित छन्द से भली–भांति पुष्ट हो जाता है :

बारह बरस लै कूकर जिये, और तेरह लै जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्री जिये, आगे जीवन को धिक्कार।

ऐसी परिस्थितियों में तत्कालीन काव्य में वीर रस का सर्वाधिक चित्राण स्वभाविक ही है। वीर रस सम्बन्धित कतिपय उत्कृष्ट उदाहरण देखिये –

1. थकि रहे सूर्य कौतिक गगन, रगन मगन भई सोन धरा।
हरइ हरषि वीर जग्गे, हुलसि रंग नभ रत वर।

2. युद्धों का सजीव और सुन्दर चित्राण :

युद्धों का चित्राण इस काल के ग्रंथों का मुख्य विषय रहा है और वह वर्णन इतना अधिक सुन्दर, सजीव एवं यथार्थ है कि कदाचित् संस्कृत साहित्य भी इस दिशा में काव्यों की समानता नहीं कर सकता। रासो ग्रंथों में युद्धों के व्यापक दर्शन दृष्टिगत होते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज, जयचन्द गौरी आदि के युद्ध अवलोकनीय हैं। चन्दरबरदाई न केवल कवि थे, पृथ्वीराज के सखा और उनके दरबार के सामन्त भी थे। अतः उनके 'पृथ्वीराज रासो' में युद्धों का वर्णन अत्यन्त यथार्थ जान पड़ा है केवल चन्दरबरदाई ही नहीं, सभी चारण कवियों का युद्ध चित्राण अत्यन्त स्वाभाविक है। 'आल्हा और ऊदल' की 52 लड़ाइयां का चित्राांकन हुआ है। इस काल के चारण कवि केवल मंसि–जीवी ही नहीं थे, करबाल–ग्राही भी थे। वे स्वयं युद्ध–स्थलों में जाकर युद्धों को अपनी आंखों से देखते थे और अपने आश्रयदाता को उत्साहित एवं प्रेरित करने के लिए काव्य सृजन करते थे। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं भी कलम फेंक कर अपने आश्रयदाता और अपनी मातृभूमि की रक्षार्थ रणभूमि में कूद पड़ते थे। वे कवि होने के साथ–साथ अच्छे योद्धा भी थे। अतः युद्ध ज्ञान उनका व्यवहारिक ज्ञान था। फलतः संस्कृत कवियों की भांति उन्होंने केवल सैन्य वैभव का ही नहीं, अपितु युद्ध भूमि में योद्धाओं की उमंगों, उनकी मनोदशाओं और क्रियाकलापों का भी अंकन किया है। पृथ्वीराज रासो से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

'उट्टस्त्राी राज पृथ्वीराज बाण लगन मने वीर नट।
कढत तेग मन लगत मनो बीज भट्टस्त्रा् घट।'

3. श्रृंगार रस का चित्राण :

इस काल के काव्य में वीररस के साथ–साथ श्रृंगार रस का भी सुन्दर अंकन हुआ है। राजपूत राजा जहां अपने आत्मसम्मान एवं गौरव के रक्षार्थ अपने पराक्रम शौर्य एवं वीरता का परिचय देने से नहीं चूकते थे, वहां सुन्दर

राजकुमारियों से शादी करने के लिए भी लालायित रहते थे। इस काल में रचित वीर–काव्य ग्रंथों में वर्णित युद्धों का मूल कारण नितान्त स्वाभाविक था। शृंगार के संयोग और वियोग के उदाहरण पर्याप्त मात्राा में दृष्टिगत होते हैं। संयोग शृंगार में षट्–ऋतु वर्णन, रूप–सौन्दर्य वयः संधि, नखशिख वर्णन आदि काव्य–रूढ़ियों की सुन्दर योजना है। 'पृथ्वीराज रासो' में संयोगिता की वयः संधि का चित्राण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। रासो ग्रंथों में वीर शृंगार रस को इकट्ठा देख कर ऐसा लगता है कि राजपूत राजाओं का ध्येय 'जीवित लम्यते लक्ष्मी मृते चपि सुरांगना' हो।

यह ठीक है कि रासो ग्रंथों में चर्चित नर–नारी प्रेम को विद्वानों ने शृंगार रस की संज्ञा दी है। लेकिन यह प्रेम विलास या वासना से ऊपर उठ पाया है।

4. संदिग्ध रचनाएं :

विवेच्य काल में रचित प्रायः सभी वीर गाथाों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। भाषा–शैली और विषय की दृष्टि से ये काव्य–कृतियां सर्वथा संदिग्ध प्रतीत होती हैं। 'खुमान–रासो' में 16वीं शताब्दी तक ही घटनाएं वर्णित है।

5. ऐतिहासिकता का अभाव :

आदिकाल में रचित प्रायः सभी वीर रसात्मक ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध है, अतः उनमें ऐतिहासिकता का अभाव है। इन काव्य ग्रंथों में इतिहास विख्यात चरित्रानायाकों को लिया गया है लेकिन उनका वर्णन इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। इन कवियों के द्वारा दिये संवतों और घटनाओं से भी इनका मेल नहीं बन पाता। इन कवियों में इतिहास की कल्पना की प्रधानता है। इतिहास के विषय को लेकर चलने वाले कवि में जो सावधानी अपेक्षित होती है वह इन काव्य निर्माताओं में नहीं है।

ऐतिहासिकता के अभाव के कई कारण हैं। चारण कवि चाटुकारिता के लिए अपने आश्रयदाताओं का झूठा यशोगान करते थे। ऐसे मिथ्या यशोगान के लिए और अपने आश्रयदाताओं को खुश करने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना की गयी है। जब कवि चाटुकारिता की दृष्टि से कविता करता है तो वह अपने नायक की प्रसन्नता के लिए अप्रिय ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन नहीं करता है। दूसरा कारण यह है कि चारण कवियों ने कल्पना का अधिक प्रयोग किया है। कल्पना के प्राधान्य के कारण कवियों ने अपने काव्यों में अनेक इतिहास विरूद्ध कल्पित अंशों को जोड़ दिया है।

6. आश्रयदाताओं की प्रशंसा :

आलोच्य काल के कवि अधिकतर राजाओं या सामन्तों के आश्रय में रहते थे। उनको आश्रय तभी तक प्राप्त थे जब तक राजा उनसे प्रसन्न रहे। इसलिए यह स्वभाविक ही था कि कवि लोग अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए उनका यशोगान करते। रासो ग्रंथों में कवियों ने अपने आश्रयदाता के धर्मवीरता, युद्ध कौशल, ऐश्वर्य आदि का वर्णन बढ़ा–चढ़ा कर ओजस्वी भाषा में किया है इस काल के कवियों की दृष्टि अपने चरित–नायक की श्रेष्ठता तथा उनके प्रतिपक्षी राजा की हीनता और चारित्रिाक दुर्बलताओं के वर्णन में रहती थी।

7. कल्पना का बाहुल्य :

चारण काव्य में कल्पना का बाहुल्य है। इस विषय में कवियों की उड़ान काफी दूर तक होती थी। कल्पना के द्वारा इन कवियों ने प्रत्येक वस्तु को रंगीन और अद्भुत बनाने का प्रयास किया है। साधारण घटना को कल्पना के बल पर ही असाधारण और चमत्कारपूर्ण बना दिया गया है। अपने चरित्रा नायकों में गुणों के प्रदर्शन के हेतु

भी इन्होंने कल्पना का आश्रय ग्रहण किया है।

8. रासो ग्रंथ :

इस काल में अधिकतर ग्रंथों के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा हुआ है। कुछ विद्वान् रासो का सम्बन्ध 'रहस्य' अथवा 'रासायन' से जोड़ते हैं, परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। मूल रूप से 'रासक' एक छन्द है, जिसका प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में 'सन्देश रासक' आदि ग्रंथों में मिलता है। फिर इसका प्रयोग गेयपद के अर्थ में होने लगा है।

9. प्रकृति चित्राण :

वीर गाथा कालीन काव्य में प्रकृति के स्वतन्त्रा रूप से चित्राण इन काव्यों में कम ही मिलते हैं प्रायः उद्दीपण रूप में ही प्रकृति चित्रित है।

10. स्वामिन सुखाय काव्य :

आदिकाल में जितने भी ग्रंथ रचे गये, उनका जन–जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी कवियों ने अपने स्वामियों के सुख के लिए ही रचना की है। अतः उनके ग्रंथों में सामन्ती जीवन उभर आया है। साधारण जनता में क्या हो रहा है इसकी ओर उन्होंने ध्यान दिया है। वैसे भी राजदरबारी कवियों से जन जीवन की विस्तृत व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती है।

11. अलंकारों का संगत प्रयोग :

आदिकालीन काव्यों में अलंकारों का भी सफल प्रयोग है। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का चमत्कार उनमें दर्शनीय है। ये अलंकार पांडित्य–प्रदर्शन हेतु नहीं, अपितु स्वाभाविक रूप में आये हैं। वे कविता कामिनी के सौन्दर्य को नष्ट नहीं कर रहे बल्कि उसमें चार चांद लगा रहे हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति, अनुप्रास आदि अलंकार का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ है।

12. विविध छन्द :

छन्दों का जितना विविध प्रयोग इस काल के काव्य में हुआ है उतना उसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, आया, सद्दक, रोजा, उलासा, कुण्डलियां आदि छन्दों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। इन कवियों ने छन्द–परिवर्तन उत्पन्न करने हेतु नहीं अपितु अतिशय भाव द्योतन के लिए किया है। फलतः छन्द–परिवर्तन में कहीं–कहीं अस्वाभाविकता ही आयी है।

13. डिंगल और पिंगल शैली :

विवेच्य काल के ग्रंथों में डिंगल और पिंगल मिश्रित राजस्थानी भाषा को आज के विद्वान् डिंगल की संज्ञा देते हैं जो वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त है। चारण अपनी कविता को बहुत ऊंचे स्वर में पढ़ते थे। यह डिंगल भाषा उसके उपयुक्त ही थी। उस समय की अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक ब्रज भाषा पिंगल के नाम में अभिहित की जाती थी।

14. काव्य रूप :

वीरगाथा कालीन साहित्य दो रूपों में उपलब्ध होता है – प्रबन्ध काव्य एवम् मुक्तक काव्य। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो प्रबन्ध काव्य है तो विद्यापति पदावली और खुसरो की पहेलियां मुक्त काव्य के उदाहरण हैं।

15. फुटकर रूप में गद्य :

आदिकाल में फुटकर रूप में गद्य लिखे जाने के संकेत मिलते हैं। 'राउबलेल' (चम्पू) उक्ति व्यक्ति प्रकरण और

'वर्ण रत्नाकर' नामक रचनाएं उल्लेखनीय है। 'राउलबेल' में राजकुमारी के नख–शिख का वर्णन है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ तथा वर्ण रत्नाकर कोषात्मक ग्रंथ है।

16. सांस्कृतिक महत्व :

आदिकाल में रचा गया साहित्य महत्वपूर्ण है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त आदिकाल का महत्व हिन्दी ग्रंथों के ऐतिहासिक प्रमाण ढूंढने की दृष्टि से भी है। 19वीं शताब्दी में इस काल के साहित्य ने इसी दृष्टि से देश विदेश के विद्वानों और साहित्येतिहास लेखकों का ध्यान आकर्षित किया है। इस साहित्य के अधिकाधिक प्राचीन सिद्ध करने और उससे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी इस साहित्य का महत्व है। सबसे बढ़कर इस काल के साहित्य का सांस्कृतिक महत्व है।

1.4.6 आदिकालीन गद्य साहित्य

आदिकालीन हिन्दी भाषा प्रारंभ से अपभ्रंश भाषा के प्रभाव को ग्रहण का विकसित हुई। धीरे–धीरे कुछ समय बाद ही वह अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हुई। अतः यह कह सकते हैं कि आदिकालीन हिन्दी–साहित्य की सामग्री को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

1) अपभ्रंश से प्रभावित रचनाएं – इसके अन्तर्गत सिद्ध एवं नाथ साहित्य, श्रावकाचार, हम्मीर रासो, राउलबेल, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, वर्णरत्नाकर, संदेशरासक आदि को लेंगे।

2) अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रचनाएं – इसके अन्तर्गत खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, ढोलामारूरा दूहा, जयचन्द प्रकाश, जयमंयक जसचन्द्रिका, खुसरो की पहेलियां, विद्यापति की पदावली इत्यादि ग्रंथों को परिगणित करेंगे।

उपर्युक्त सामग्री के विषय में हम यहां यह बात भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि इनमें से कुछ ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध हैं और कुछ ग्रंथ मूल रूप से अप्राप्य हैं। साथ ही कुछ रचनाएं अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं, कुछ ग्रंथों में उनके अस्तित्व का प्रमाण अवश्य मिलता है। खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, जयमयंक जसचन्द्रिका, जयचन्द्र प्रकाश आदि रचनाएं ऐसी ही हैं। 'हमीर रासो' तथा 'खुमाण रासो' मूल रूप अभी तक अज्ञात हैं। परन्तु यह अवश्य मान लिया गया है कि ये ग्रंथ आदिकाल में ही रचे गए थे, यद्यपि समय–समय पर इनके आकार तथा रूप में परिवर्तन होता गया।

आदिकाल में उपलब्ध अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी की सिद्धों, जैनों तथा नाथों द्वारा रचित सामग्री के सम्बन्ध में शुक्ल आदि विद्वानों की यह धारणा है कि वह धार्मिक है तथा उसमें साहित्यिकता का अभाव है। परन्तु द्विवेदी आदि विद्वानों के मत में उसे उसी प्रकार साहित्यिक मानना चाहिए जिस प्रकार भक्तिकालीन कबीर, तुलसी, जायसी आदि की कृतियों को। इस काल की समस्त रचनाओं को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. सिद्ध साहित्य 2. नाथ साहित्य 3. जैन साहित्य 4. रासो–साहित्य 5. फुटकल–साहित्य। इनमें से प्रथम 'तीन वर्गों का साहित्य धार्मिक पृष्ठभूमि पर रचित है, दूसरे वर्ग का साहित्य प्रशस्ति काव्य है और उनकी मूलभूमि लौकिक है तथा तीसरे वर्ग का साहित्य विविधमुखी है। इन सभी वर्गों के साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

1) सिद्ध साहित्य : वैसे तो चौरासी सिद्ध हुए हैं, परन्तु साहित्य कुछ ही सिद्धों का उपलब्ध हो पाया है।

और यह भी प्रकीर्ण पदों के रूप में अधिक। सरहपाद नामक सिद्ध हिन्दी के प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। इनके ग्रंथों की संख्या 32 बताई जाती है, जिनमें से 'दोहाकोष' प्रसिद्ध है। इसे हिन्दी भाषा का ग्रंथ माना जाता है। इनकी भाषा सरल भाव सहज प्रवाह युक्त तथा शैली गेय है। शवरपा (जन्म सन् 780) द्वार रचित 'चर्यापद' भी अत्याधिक लोक–प्रसिद्ध रचना है – डोम्भिया, अक्षरद्रिकोपदेश आदि प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त लुइपा, कण्हपा एवं कुकरिपा नामक सिद्धों के कुछ फुटकल पद मिले हैं। इन सिद्धों का साहित्य जन–भाषा में रचित है और इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। साहित्य में कवित्व का अंश कम है। इसके काव्य के विषय योग साधना का प्रचार सहज, भोगमार्ग माया मोह का विरोध 1. पाखण्ड एवं आरम्बर का विरोध, गुरु–सेवा का महत्व, रहस्य–भावना आदि है। भक्तिकालीन संतों पर इनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण–भक्ति शाखा के कवियों की प्रवृत्ति भावना पर भी इनका प्रभाव कहा जा सकता है।

2) जैन साहित्य : वैसे तो जैन साहित्य मुख्यतः अपभ्रंश में रचित है, परन्तु कुछ साहित्य अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी एवं अपभ्रंश मुक्त हिन्दी में भी उपलब्ध होता है। अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी की रचनाओं में सर्वप्रथम देवसेन रचित 'श्रीवकाचार' रचना उपलब्ध होती है। देवसेन ने वैसे तो हिन्दी में 'लघुनायक तथा दर्शनसार' नामक ग्रंथ भी लिखे परन्तु वे साहित्यिक नहीं बन पड़े हैं। 'श्रावकाचार' में 250 दोहों में मुख्यतः श्रावक धर्म तथा गौण रूप से गृहस्थ धर्म कर्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। इनका रचनकाल सन् 933 ई. है। अन्य रचनाओं में शलिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबली रास', 'स्थूलिभद्र रास' (सन् 1209) विजय 'सेन सूरि' कृत 'रैवत गिरि रास' (1231) तथा सुमित कृत 'नेमिदास रास' उक्ति –वैचित्रय तथा रसात्मकता इसके विशेष आकर्षक है। 'चन्दन बाला रास' पैतीस छन्दों का लघु खण्डकाव्य है, जिसमें करुण रस का मार्मिक परिपाक हुआ है और जिसका भाव–सौन्दर्य आकर्षक तथा काव्यमय है। शेष रचनाएं धार्मिक भावना में अधिक मण्डित है वैसे काव्यमय अभिव्यंजना सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।

3) नाथ–साहित्य : राहुल सांकृत्यायन ने नाथ–पंथ के सिद्धों की परम्परा का विकसित रूप माना है। सिद्धों की वाममार्गी भोग प्रधान साधना की प्रतिक्रिया के रूप आदिकाल में नाथ–पंथियों की हठयोग साधना आरम्भ हुई, ऐसा भी कहा जाता है। जीवन के कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कराने का श्रेय नाथों का ही है। वस्तुतः नाथ पंथ सिद्धों की सहज साधना प्रतिक्रियास्वरूप अस्तित्व में आयी और उसने उस समय की विकृतियों का विरोध कर जीवन में आचरण तथा संयम को स्थापित कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। हिन्दी के सन्त कवि नाथों से ही सर्वाधिक प्रभावित हुए। चौदहवीं शती तक नाथ–सम्प्रदाय का बोलबाला रहा। नाथ–सम्प्रदाय से सम्बन्धित साहित्य फुटकल पदों के रूप में ही मुख्यतः प्राप्त होता है। गोरखनाथ के ग्रंथों के प्रमाण मिलते हैं। उनके ग्रंथों की संख्या चालीस बताई जाती है परन्तु डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल केवल चौदह रचनाओं को गोरखनाथ द्वारा रचित बताते हैं।

4) रासो साहित्य : गार्सां द तासी ने 'रासो' शब्द को राजसूय से माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रासायण' से मानते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रास का मूल रास या रासक माना है। राजस्थान की बोलचाल की भाषा में 'रास' शब्द का प्रयोग लड़ाई के अर्थ में हुआ। प्राचीन राजस्थान में रासक का अपभ्रंश 'राउस' मिलता है यही 'रासो' बना। 'रास' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग श्रीमद्भागवत गीत में गीत–नृत्य के रूप में हुआ। हिन्दी में मुख्यतः वीर रसात्मक प्रबन्ध काव्य के लिए रासो शब्द का प्रयोग हुआ है। रासो काव्य–धारा हिन्दी साहित्य की समृद्ध काव्य–धारा है। इसकी प्रमुख विशेषता है नृत्संगीतपरकता। दूसरी विशेषता छन्दों की विविधता है। इस परम्परा की रचनाएं जनजीवन एवं जनता की बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार आदिकालीन रासो–साहित्य राज्याश्रित कवियों का काव्य है और लौकिक धरातल पर रचित है।

इनमें 'खुमाणरासो' को शुक्ल नवीं शताब्दी की और द्विवेदी जी अठारहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं द्विवेदी जी से आदिकाल में लेने के पक्षपाती नहीं है। इनका लेखक भी विवादास्पद हैं। शिव सिंह सेंगर इसे किसी अज्ञातनामा भट्ट की रचना मानते हैं तथा डॉ. द्विवेदी दलपति विजय को इसका लेखक मानते हैं। इस ग्रंथ में श्री रामचन्द्र जी से लेकर नवीं शताब्दी के चितौड़ नरेश राज सिंह तक के राजाओं का वर्णन पाया जाता है। डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अनुसार इस काव्य का मूल रूप नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। यह पांच हजार छन्दों में लिखित विशालकाय ग्रंथ है, जिसकी हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें युद्ध, विवादों, नायिका–भेद, ऋतु आदि के सरस तथा रोचक वर्णन देखने को मिलते हैं। वीर रस के अतिरिक्त श्रृंगार रस का भी सुन्दर परिपाक देखने को मिलता है।

नरपति नाल्ह द्वारा रचित 'बीसलदेव रासो' एक सुन्दर विरह काव्य है। इसकी रचना अधिकांश विद्वान् सन् 1155 में मानते हैं शुक्ल जी ने इसका रचनाकाल सं. 1272 अर्थात् सन् 272 माना है। मोतीलाल मेनारिया इसे सोलहवीं शताब्दी में रचित गुजराती कवि नरपति की रचना मानते हैं। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने कई रचना काल सन् 1016 भी सिद्ध किया है। इसमें अजमेर के शासक बीसलदेव उर्फ विग्रह राज तृतीय का वर्णन है। डॉ. रामकुमार वर्मा विग्रहराज (द्वितीय समय सन् 1001) को इसका नायक मानते हैं। परन्तु इस समय तक अजमेर का अस्तित्व ही नहीं था। इस ग्रंथ के चार खण्ड है जिनमें बीसलदेव द्वारा जैसलमेर की राजकुमारी राजमती से विवाह, बीसलदेव के राजमती से रूठ कर उड़ीसा जाना, राजमती का विरह, बीसलदेव का वापिस लौटना, राजमती से रूठकर मायके जाने तथा बीसलदेव द्वारा उस को मना कर लाने का वर्णन हुआ है। इसमें कवि ने बीसलदेव के वीर रूप को अपना कर उसके निजी जीवन की एक झांकी प्रस्तुत की है इसका संयोग–वर्णन–प्रकृति–चित्राण आदि अत्यन्त प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। इसे मूलतः प्रेम काव्य माना गया है। इसकी भाषा के डॉ. रामकुमार वर्मा अपभ्रंश प्रभावित मानते हैं। वस्तुतः यह अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी के सन्धि–स्थल की रचना है।

'विजयपाल रासो' का मिश्रबन्धुओं और शुक्ल जी ने आदिकालीन रचना स्वीकार किया है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार नल्लसिंह द्वारा उचित इस ग्रंथ में विजयपाल सिंह तथा पंग राजा के मध्य युद्ध (सन् 1036) का वर्णन है और इसका रचनाकाल 1298 ई. है।

जागनिक द्वारा रचित 'परमालरासो' में आल्हा और उदल नामक दो क्षत्राीय वीरों की वीरता का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है। बहुत समय तक इसे 'पृथ्वीराज रासो' का एक खण्ड' 'महोबा खण्ड' समझा गया। सन् 1919 ई. में डॉ. भूमिका में डॉ. श्यामसुन्दर दास ने इस भ्रम का निराकरण किया कि यह पृथ्वीराज रासो के महोवा खण्ड का ही रूप है। वे इसे पृथ्वीराज रासो में वर्णित घटनाओं एवं वर्णनों के आधार पर लिखा गया स्वतंत्रा ग्रंथ मानते हैं। 'परमाल रासो' नाम उन्हीं का नाम दिया हुआ है। इस ग्रंथ के पाठ का निर्धारण डॉ. श्यामसुन्दर दास ने चार्ल्स इलियट द्वारा प्रकाशित मौखिक सामग्री पर आधारित आल्हाखण्ड (प्रकाश काल सन् 1808) के आधार पर किया।

रासो–साहित्य में चन्दरबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया गया है। इसके सबसे अधिक रूपान्तर उपलब्ध होते हैं। प्रचलन की दृष्टि से 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित बृहद् रूपान्तर उल्लेखनीय है, जिसमें 69 समय, 16,306 छन्द और 2500 पृष्ठ हैं। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता को लेकर सर्वाधिक ऊहापोह हुई है। वैसे इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया गया है, केवल मूल रूप को लेकर विवाद बना हुआ है। डॉ. श्यामसुन्दर दास इसे महाकाव्य न मानकर एक विशालकाय ग्रंथ कहते हैं। साहित्य की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' में वीर तथा श्रृंगार रसो का सुन्दर परिपाक हुआ है। वस्तु–वर्णनों का अधिक्य है

और वे प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं। इसकी भाषा युद्धों के प्रसंगों में डिंगल तथा प्रेम–विवाहादि प्रसंगों में पिंगल रूप धारण करती है। कहीं–कहीं वह अपभ्रंश प्रभावित भी है। भाषा ध्वन्यात्मक एवं व्यंजनापूर्ण है। छन्दों में वैविध्य है। कोई 68 छन्दों का प्रयोग हुआ है। अलंकारों का प्रयोग सहज और स्वाभाविक है।

5) फुटकल साहित्य : आदिकाल में उपलब्ध फुटकल साहित्य में से भट्ट केदार कृत 'जय चन्द्र प्रकाश' तथा मधुकर जयमंयक जयचन्द्रिका नोटिस मात्रा हैं। इनके उल्लेख 'राठौड़ा री ख्यात' में मिलता है। रचनाओं के उपलब्ध न होने के कारण उन पर किसी भी रूप में विचार नहीं किया जा सकता। ग्यारहवीं शताब्दी में रचित 'ढोला मारूरा दूहा' दोहा शैली में रचित एक ऐसा लोक भाषा काव्य है, जो एक और सन्देश रासी के समान लोक काव्य हैं तो दूसरी और 'बीसलदेव रासो' के समान विरह गीत है। इसमें प्रेम की सात्विकता सरस शैली में वर्णित है विरह वर्णन अत्याधिक मार्मिक है। डॉ. द्विवेदी विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि ने इस काव्य के भाव–गांभीर्य को परिष्कृत लोक रूचि का प्रतीक माना है। इसका लेखक अज्ञात है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसे सोलहवीं सदी की रचना मानते हैं तथा कुशल नाम को इसका रचयिता कहते है।

'बसन्त विलास इस काल की एक ऐसी फुटकल रचना है, जिसे डॉ. माता प्रसाद गुप्त एक अत्यधिक सरस तथा आदिकाल में बेजोड़ साहित्यिक कृति मानते हैं। वे इसे ईसा की तेरहवीं शती की रचना स्वीकार करते हैं। इसमें 84 दोहों में बसन्त ऋतु का मनोरम चित्राण हुआ है। यह श्रृंगार रस प्रधान रचना है। स्त्राी, पुरुष, प्रकृति तीनों में अजस्र बहती मदोन्मता का इस काव्य में जैसे चित्राण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी–कवि भी नहीं कर सके। इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रज भाषा का रूप लेती प्रतीत होती है। उस पर उस आलंकारिता की गहरी छाया भी यहीं से मिलती है, जिसका रीतिकाल तक पूर्ण विकास हुआ।'

अब्दुलरहमान का 'सन्देश रासक' एक प्रेम काव्य है। डॉ. कत्रो ने इसका रचनाकाल 11वीं शताब्दी से 14 वीं शताब्दी के मध्य माना है, अग्रचन्द नाहटा ने सं. 1400 के आसपास, डॉ. द्विवेदी ने 11वीं शताब्दी द्विवेदी का मत ही अधिक मान्य है यह कल्पित लोक कथा पर आधारित विरह प्रधान खण्ड काव्य है जिसमें विरह की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों की हदयग्राही अभिव्यक्ति हुई है। इससे एक विरहणी के द्वर्ष, हृदय की टीम, प्रेम की गहनता, आत्मसमर्पण, उपालम्भ आदि की अतीव मार्मिक एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इस 'सन्देशरासक' में ऐसी करूणा है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। उपमायें अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ की हैं तथापि बाह्य वृत की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है, जैसे आन्तरिक अनुभूति की। ऋतु–वर्णन प्रसंग में बाह्य प्रकृति इस रूप में चित्रिात नहीं हुई है जिसमें आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाये। यह तीन भागों में विभक्त छोटी–सी रचना है। यह मुख्यतः रासक छन्द में रचित है। परन्तु दोहा छन्द का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। यह कोमल–कान्त पदावली से युक्त गेय शैली में रचित काव्य है।

फुटकल काव्य–प्रणेताओं में अमीर खुसरों का महत्व जन–जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से विशेष है। इन्होंने 283 ई. के आसपास रचना की। उनके द्वारा ग्रंथों की संख्या 100 बताई जाती है। परन्तु उपलब्ध 20-21 है। खालिक बारी, पहेलियां, मुकरियां, दो सुखने, ग़ज़ल, किस्सा चार दरवेश लिखा उनकी रचनाओं में पहेलियां और मुकरियां ही विशेष प्रसिद्ध हैं। शुक्ल ने तो इनकी पहेलियां को आदिकाल जनता को युद्ध, संयम, आत्मशासन की छाया आदि से मुक्त कर उसे आनन्द और विनोद की दुनिया में स्वच्छन्दता से विहार करने की प्रेरणा माना है। उन्होंने भाषा के साथ–साथ हिन्दू–मुस्लिम एकता में भी अप्रत्यक्ष सहयोग दिया। खड़ी बोली में काव्य में चमत्कार तथा कौतूहल के प्रथम संचारक आप ही हैं।

नाथ साहित्य

सिद्धों की वाममार्गी भोग प्रधान योग साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदिकाल में नाथपन्थियों की हठयोग साधना आरंभ हुई। राहुल जी ने नाथ पंथ को सिद्धों की परम्परा का ही विकसित रूप माना है। इस पंथ के चलाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ (मछन्दरनाथ) तथा गोरखनाथ माने गये हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा ने नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक माना है। उनका मत है कि नाथ पंथ से ही भक्ति काल के समय मत का विकास हुआ है, जिसके प्रथम कवि कबीर थे।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'नाथ–पंथ का नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध मत, सिद्ध–मार्ग, योग मार्ग, योग सम्पद्राय अवधूत मत एवं अवधूत सम्प्रदाय नाम भी प्रसिद्ध है उनके इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सिद्ध–मत और नाथ–मत एक ही है। उन्होंने तो नाम ख्याति की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसका आशय इतना ही है कि इन दोनों मार्गों को एक ही नाम से पुकारा जाता है और जिसका कारण यह था कि मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ सिद्धों में गिने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ नारी–साहचर्य के मोह में फंसे थे, जिससे उनके शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ ने उद्धार किया था। सिद्ध–गण नारी भोग में विश्वास करते थे, किन्तु नाथ पंथी इसके विरोधी थी। नाथ साहित्य के प्रमुख कवियों में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी, जलन्धीपाव इत्यादि प्रमुख हैं।

डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने सन्त काव्य–परम्परा के स्त्रोतों का अनुसंधान करते हुए सिद्धों और नाथपन्थियों की वाणियों, विचार सारणियों, पद्धतियों व काव्य शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार आदि इनसे प्रभावित है। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत भाव विचार तर्क पद्धति, भाषा, शैली के आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दी का सन्तकाव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है। हिन्दी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्त्रोतों की खोज करते हुए डॉ. द्विवेदी ने बताया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक रूढ़ियों, रचना–शैली, छन्द योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश काव्य परम्परा पर आधारित है।

नाथ साहित्य की देन :

आदिकाल में हिन्दी साहित्य समानान्तर संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की भी रचना हो रही थी।

इनमें से संस्कृत साहित्य का तो सामान्य जनता और हिन्दी कवियों पर उतना प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ रहा था, किन्तु अपभ्रंश साहित्य, भाषा की निकटता के कारण हिन्दी साहित्य के लिए निरन्तर साथ चलने वाली पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा है। आचार्य रामचंद शुक्ल ने 'अपभ्रंश काल' के अन्तर्गत और आरंभिक हिन्दी दोनों की रचनाएं सम्मिलित कर ली हैं, किन्तु नवीन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें से कुछ रचनाएं आरम्भिक हिन्दी –साहित्य के अन्तर्गत आती हैं और अन्य को अपभ्रंश साहित्य में रखा जाना उचित है। अपभ्रंश साहित्य के कवियों के कुछ प्रमुख नाम स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, अब्दुलरहमान, जिनदत्तसूरी, जोइन्दु आदि कवियों के हैं।

सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जनभाषा में लिखा वह हिन्दी के सिद्ध–साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नाम का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरंभ होता है। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्मिया, कणहप्पा एवं कुक्कुरिपा हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि हैं।

जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्रा में सिद्धों ने बौद्ध–धर्म के वज्रयान का मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्रा में जैन साधुओं ने भी अपने अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया।

मुनिजिनविजय देवसेन, जिनधर्मसूरि, विजयसेन सूरि इत्यादि कवि प्रमुख हैं।

गोरखनाथ नाथ साहित्य के आरंभकर्ता माने जाते हैं। वे सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। राहुल सांकृत्यायन ने गोरखनाथ का समय 845 ई. माना है। नवीन खोजों से पता चलता है कि ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में गोरखनाथ ने अपना साहित्य लिखा। उनके ग्रंथों की रचना चालीस मानी जाती है। किन्तु डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने केवल चौदह रचनाएं उनके द्वारा रचित मानी। 'गोरखवानी' नाम से एक संकलन भी डॉ. बड़थ्वाल ने संपादित की है, जिसकी कई रचनाएं साहित्य की सीमा में आती हैं।

गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय थे। जिनका नाथ पंथ में विलय हो गया था। शैवों एवं शक्तियों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योगमार्गी भी उनके सम्प्रदाय में आ मिले थे। गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में गुरुमहिमा, इन्द्रिय–विग्रह, प्राण–साधना, वैराग्य, मनः साधना, कुण्डलिनी–जागरण, शून्य समाधि आदि का वर्णन किया है। इन विषयों मे नीति और साधना की व्यापकता मिलती है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओं को धार्मिक विषय के कारण साहित्य मे सम्मिलित नहीं किया था। किन्तु डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का अपना तर्क है। वे मानते हैं कि पूर्वोक्त विषयों के साथ जीवन की अनुभूतियों का सघन चित्राण होने के कारण इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित करना उचित ही है। इसी साहित्य का विकास भक्ति काल में ज्ञानमार्गी सन्तकाव्य के रूप में हुआ।

गोरखनाथ की कविताओं से स्पष्ट है कि भक्ति कालीन सन्त–मार्ग के भाव–पक्ष पर ही उनका प्रभाव नहीं पड़ा, भाषा छन्द भी प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं में हमें आदिकाल की वह शक्ति छिपी हुई मिलती है। जिसमें भक्तिकाल की कई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। नाथ साहित्य के समय तक हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ चलती हुई क्रमशः जनभाषा के रूप में साहित्य–रचना का माध्यम बनी रही तथा साथ ही निरन्तर विकसित होती हुई जनभाषा के रूप में हिन्दी आठवीं शताब्दी तक साहित्य का माध्यम बन चुकी थी। फलस्वरूप अपभ्रंश में लिखने वाले कवि अवसर पाकर हिन्दी में भी कविता करने लगे। दोनों भाषाओं में वह स्पर्धा भक्तिकाल के आरंभ तक चलती रही और अन्त में एक दिन ऐसा भी आया कि जब अपभ्रंश का खेमा छोड़ कर कवि हिन्दी के मार्ग पर अग्रसर हो गए। भाषा का यह रूप नाथ साहित्य में भी मिलता है।

आदिकाल के अन्तर्गत भाषा साहित्य के कवियों ने अपनी रचना में उन शब्दों को छोड़ दिया जो घिसे–पिटे धार्मिक अर्थ को ढोते थे, तत्कालीन जीवन की भाव–भूमि का साथ देने वाली शब्दावली सरल रूप से भी सशक्त होती जा रही थी। साथ ही नये अनुभवों को व्यंजित करने की शक्ति बड़ी स्फूर्ति के साथ जन्म ले रही थी। सिद्धों की जीवन दृष्टि तथा स्पष्टवादिता, नाथपंथियों का हठयोग, जैनियों की अहिंसा, चारणभाटों की प्रशस्तियां, खुसरों की लोकानुरन्जकता–सबको एक साथ अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में तल्लीन हिन्दी भाषा न तो अलंकार की परवाह करती थी, न लक्षण–व्यंजना आदि की। भाषा की सम्प्रेषण कौशल का ही नतीजा था कि कवियों ने जीवन के जिस किसी भी भाग को चित्रित किया, वही सजीव हो उठा। नाथ साहित्य के माध्यम से हमें भाषा के इस परिवर्धित और गतिशील रूप का दर्शन होता है।

कथ्य की दृष्टि से इस साहित्य में समाज की विभिन्न स्थितियों पर दृष्टिपात करके सहज जीवन का मार्ग सुझाने से लेकर हठयोग की साधना तक आदिकाल में मुक्तक, काव्य–रूप का जो विस्तार हुआ, उसका बहुत अधिक ऐतिहासिक महत्व है।

नाथ साहित्य में गुरु की बड़ी महिमा गायी हुई है। गुरु ही समस्य श्रेयों का मूल है। नाथ साहित्य से गुरु महिमा सीधे सन्त साहित्य में मिलता है। जहां सब कुछ सदगुरु की कृपा से ही संभव हो पाता है। वह भक्ति और मुक्ति

में नाथ पन्थियों का परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है, पर यह द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से परे है।

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में पुस्तक–विद्या की बड़ी खिल्ली उड़ाई गई है। इसमें 'कवेशय' गीता की एक कहानी उद्धृत की गई है। दुर्वासा मुनि सब शास्त्रा पढ़कर महादेव की सभा में गए। वहां पर उनके अध्ययन ज्ञान का अभाव देखकर नारद ने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहा। दुर्वासा ने अपमानित होकर सारी पुस्तकें समुद्र में फैंक दी और शिव से अध्यात्मक विद्या की शिक्षा मांगी। कबीर दास ने भी पोथी पढ़ कर मरने वाले और फिर राम को न जाने सकने वाले ज्ञान–मूढों की कुछ ऐसी खिल्ली उड़ाई है।

डिंगल तथा पिंगल

काव्य रचना की दो महत्वपूर्ण शैलियों का आदिकाल में विकास हुआ था। जिन्हें कुछ विद्वानों ने भाषा का नाम देकर भ्रम पैदा कर दिया है। ये शैलियां है – डिंगल तथा पिंगल। आदिकालीन हिन्दी–साहित्य में वीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली का प्रयोग होता था तथा कोमल भावों को व्यक्त करने के लिए पिंगल शैली का प्रयोग किया जाता था। जब कवि डिंगल शैली का प्रयोग करता था तो वह हिन्दी बोलियों के कर्कश शब्दों को अपनाता था। किन्तु पिंगल शैली के प्रयोग में धीरे–धीरे कोमल शब्दावली का विकास हो रहा था। डिंगल की कर्कश शब्दावली सीमित थी, अतः इस शैली के प्रयोग में धीरे धीरे पिंगल शैली लोकप्रिय होती चली गयी और उसका ब्रजभाषा में विलय हो गया। जो लोग डिंगल को राजस्थानी भाषा का पर्याय मानते हैं वे भूल करते हैं। वस्तुतः राजस्थानी के आदिकालीन साहित्य की भाषा हिन्दी की ये दोनों ही शैलियां चारणों भाटों द्वारा प्रयुक्त होती थी। साथ ही भक्तिकाल और रीतिकाल में भी उनके प्रयोग की वह क्षीण धारा चलती रही। आज भी राजस्थान की काव्य–रचनाओं में इन दोनों शैलियों की उस परम्परा के अवशेष मिल जाते हैं।

आदिकाल की समस्त रचनाओं को अध्ययन की सुविधा के लिए सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य, रासो साहित्य तथा फुटकल साहित्य में बांटा गया है। सरहपाद नामक सिद्ध हिन्दी के प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं।

1.4.7 काव्यधाराएं और उनकी प्रवृत्तियां :

आदिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएं

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि आदिकाल में काव्य की इतनी प्रवृत्तियां हैं कि उन्हें एक नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसे आदिकाल के नाम से ही पुकारना समीचीन रहेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीर काव्य के अतिरिक्त काव्यधाराओं को 'धार्मिक काव्य' कहकर साहित्य की मुख्य धारा से बाहर रखा। इसीलिए इस काल को वीरगाथाकाल कहा। किन्तु आचार्य शुक्ल के परवर्ती समीक्षकों और साहित्येतिहासकारों ने पाया कि जिन काव्यधाराओं को शुक्ल जी ने धार्मिक साहित्य कहकर उपेक्षा की थी, उनका भी उतना ही महत्व जितना वीरगाथा काव्यधारा का। इस काल की विभिन्न काव्यधाराएं हिन्दी साहित्य के विकास की आधारभूमि तैयार करती हैं अतः इन सभी प्रवृत्तियों का अध्ययन करना जरूरी है। यहां हम आदिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराओं का परिचय दे रहे हैं –

1. जैन काव्यधारा :

प्राचीन काल में भारतवर्ष में जैन धर्म का जन्म बौद्ध धर्म के जन्म के साथ ही हुआ। बौद्ध धर्म का प्रसार भारत के अलावा विदेशों में भी हुआ, जबकि जैन धर्म का विस्तार देश के पश्चिमी भाग अर्थात् राजस्थान, गुजरात आदि तक बौद्धों की आम बोलचाल की भाषा में ही हुआ। साथ ही जैन धर्म के कवियों ने परम्परा में प्रचलित कथाओं तथा स्वकल्पित कथाओं को अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। 13वीं शताब्दी के आसपास जैन कवियों द्वारा रचित अनेक रचनाएं प्राप्त होती हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश है। जैन धर्म से सम्बद्ध अनेक रचनाएं संस्कृत तथा प्राकृत

में भी लिखी गयीं, किन्तु जैन कवियों की जो रचनाएं आदिकाल की अवधि में आती हैं, उनकी भाषा अपभ्रंश है। पश्चिमी भारत के चालुक्य, सोलंकी तथा राष्ट्रकूट राजाओं की ओर संकेत करती हैं। जैन कवियों द्वारा रचित ये रचनाएं इन रूपों में उपलब्ध होती हैं –

1. ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत रचित रामायण और महाभारत के अनुकरण पर लिखे गये काव्य–ग्रन्थ, जिनमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी रचनाओं में स्वयंभू–रचित 'पउमचरिउ' (रामायण) और रिट्ठणेमिचरिउ या हरिवंश पुराण (महाभारत) विशेष उल्लेखनीय हैं।
2. दूसरे प्रकार की रचनाओं में पुराणों के अनुकरण पर लिखे गये जैन तीर्थकरों के चरित आते हैं। इस कोटि की रचनाओं में पुष्पदन्तकृत महापुराण विशेष उल्लेखनीय हैं।
3. तीसरे प्रकार की रचनाओं में जैन कवियों द्वारा रचित उपदेश और नीतिपरक रचनाएं आती हैं। इस कोटि की रचनाओं में मुनि रामसिंहकृत 'पाहुड–दोहा', योगीन्द्रकृत 'परमात्म–प्रकाश' आदि को लिया जा सकता है।
4. चौथे प्रकार की जैन रचनाएं शुद्धरूप से लौकिक कथाओं का सहारा लेकर जैन धर्म के व्रत, संयम, नियम, तप आदि का प्रतिपादन करती हैं। ऐसी रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय रचनाएं 'भविसयत्तकहा' तथा 'णयकुमारचरिउ' आदि हैं।

इनके अतिरिक्त जैन कवियों की और रचनाएं भी प्राप्त होती हैं, जिनका विषय श्रृंगार, नीति, शौर्य आदि रहा है भले ही जैन कवियों की रचनाओं को हम धार्मिक मानें किन्तु काव्यत्व और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इन रचनाओं का बहुत महत्त्व है।

प्रमुख जैन कवि : अपभ्रंश भाषा का 'वाल्मीकि' कहे जाने वाले स्वयंभू कवि की बहुत रचनाएं उपलब्ध नहीं होती तथा विद्वानों ने 'पउमचरिउ' (पद्मचरित) 'अरिट्ठणोमिचरिउ' (हरिवंश पुराण), 'स्वयंभू छन्द' तथा 'णयकुमारचरिउ' आदि को इनकी रचनाएं माना है। इनमें भी इनकी रामकथा से सम्बद्ध 'पउमचरिउ' को सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखे इस ग्रन्थ का ढांचा विद्याधर काण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में विभक्त है। जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए कवि ने रामकथा को मनमाने ढंग से बदला है। किन्तु चरित्रा–चित्राण कौशल, प्राकृतिक दृश्यों के मनोहर चित्राण, भावों की मार्मिक और हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति तथा आलंकारिक उक्तियों की श्रेष्ठता की दृष्टि से यह काव्य उच्च कोटि का है। डॉ. नामवर सिंह ने स्वयंभू के इस काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है – ''स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जलक्रीड़ा से लेकर युद्धक्षेत्रा तक, जीवन के सभी क्षेत्राों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्राकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिन्तन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर दिखायी नहीं पड़ा।

पुष्पदन्त (10वीं शती) दूसरे महत्त्वपूर्ण जैन कवि हैं जिन्हें अपभ्रंश का व्यास कहा जाता है। उनकी तीन रचनाएं उपलब्ध हुई हैं–महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ। इनमें भी 'महापुराण' काव्य के कारण उन्हें अधिक ख्याति मिली। पुष्पदंत पहले शैव थे और बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गये। उन्होंने अपने 'महापुराण' में ऋषमदेव तथा अन्य तेईस जैन तीर्थकारों एवं अन्य महापुरुषों के चरित्राों का वर्णन किया है। पुष्पदन्त का मन रामकथा से अधिक कृष्ण के चरित्रा वर्णन में अधिक रहा है। स्वभाव से अक्खड़ और असहिष्णु पुष्पदन्त ने अपनी रचनाओं में ब्राह्मण धर्म का प्रखर विरोध किया है।

धनपाल (याकोबी ने इन्हें 10वीं शती में विद्यमान माना है।) धनपाल ने भविष्यदत्त की कथा के माध्यम से

'श्रुतपंचमीव्रत' के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। यह रचना लौकिक जीवन के विविध पक्षों पर आधारित है तथा सीधी–सरल भाषा में लिखी गयी है। पूरे काव्य में कथात्मकता की प्रधानता है।

इनके अतिरिक्त मुनि रामसिंहकृत–'पाहुड–दोहा', देवसेनकृत 'सावयधम्म दोहा', जोइन्दु (योगीन्द्र) कृत 'परमात्म–प्रकाश' और 'योगसार' की गणना जैन काव्यों में की जाती है। ये सभी रचनाएं उपदेशमूलक हैं।

हेमचन्द्रकृत 'शब्दानुशासन' के दोहे संयोग, वियोग, वीरता तथा अन्य मानवीय भावों का जो चित्रा उपस्थित करते हैं, वे सर्वथा सराहनीय हैं। **मंजु** के दोहे तो अत्यन्त मार्मिक तथा हृदय को द्रवित कर देने वाले हैं। इन सभी काव्य–रचनाओं का भाषा की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है।

वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता और रूढ़िवादिता और उसमें निहित हिंसा के विरुद्ध छठी शताब्दी ई. पू. में बौद्ध धर्म का उदय हुआ जिसने बहुत जल्दी एक जन–आन्दोलन का रूप ले लिया। इसके मानवतापरक सिद्धान्तों की लोकप्रियता के कारण यह धर्म लगभग पूरे एशिया खण्ड में फैल गया। ईसा की पहली शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म दो अखाड़ों में बंट गया–महायान और हीनयान। महायान बौद्ध धर्म की आधारभूत मान्यताओं, स्थापनाओं पर बल देता रहा तथा व्यावहारिक, सहज और सरल जीवन अपनाने को प्रधानता देता रहा। जबकि हीनयान में ज्ञानार्जन, पाण्डित्य, व्रत, नियम, तप, विरक्ति जैसे तत्वों पर अधिक बल दिया जाने लगा। धीरे–धीरे हीनयान विरक्तों और संन्यासियों का सम्प्रदाय बन गया, जबकि महायान गृहस्थ, विरक्त, ऊंच–नीच, छोटे–बड़े सभी का धर्म बना रहा।

बौद्ध धर्म के इन दोनों खेमों के बीच मतभेद होते गये और गुप्त नरेशों की वैष्णव धर्म के प्रति गहरी आस्था ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय से दूर कर दिया। साथ ही 8वीं–9वीं शताब्दी में शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट के बौद्ध धर्म विरोधी प्रखर अभियान ने भारत में इस धर्म की जड़ें हिला दी। इस स्थिति में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने जन्त्रा, तन्त्रा, मन्त्रा की सिद्धियों तथा चामत्कारिक योगसाधनाओं का सहारा लेना आरम्भ कर दिया। इन सिद्धियों का कोई सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार नहीं था, अतः धीरे–धीरे मांस–भक्षण, मदिरा सेवन, उन्मुक्त यौनाचार जैसे पतनशील तत्व इस धर्म के आते गये।

400 ई. के लगभग महायान की एक अन्य शाखा मन्त्रायान का विकास हुआ, जिसमें योग और तन्त्रा दोनों को स्थान दिया गया। यह शाखा न भोगवाद पर बल देती थी, न तान्त्रिाक साधनाओं पर। आगे चलकर वज्रयान, सहजयान, तन्त्रायान जैसे सम्प्रदाय मन्त्रायान से ही विकसित हुए। हिन्दी के सिद्ध कवियों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म की बज्रयान शाखा से था। सहज, सरल और सात्विक जीवन पर बल देने वाले बौद्ध धर्म से विकसित हुई बज्रयान शाखा के सिद्धों की साधना–जन्त्रा–मन्त्रा, डाकिनी–शाकिनी, मद्य–मैथुन तथा समाधि में भटक कर रही गयी। बुद्ध को ईश्वर मानकर पूजा जाने लगा तथा बज्रयान तक पहुंचते–पहुंचते सिद्धों का एकमात्रा लक्ष्य मन्त्रों की सिद्धि रह गया।

आदिकालीन साहित्य में सिद्ध कवियों की रचनाओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि सिद्ध कवि सामान्य जन–जीवन से जुड़े हुए थे। अतः उनकी रचनाओं में तत्कालीन सामंती संस्कृति के प्रति विरोध का स्वर मिलता है। सिद्ध कवियों की साधना में प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं –

1. वज्रयानी सिद्धों की साधना का प्रमुख तत्त्व शून्यवाद है। इसी के अर्न्तगत उन्होंने महासुख की कल्पना की। इनके सम्प्रदाय में वज्र को शून्यता का भौतिक प्रतीक माना गया।
2. वज्रयानी सिद्धों ने व्यावहारिकता पर अधिक बल न देकर अन्तः साधना पर अधिक बल दिया। परन्तु इनकी अन्तः साधना में 'संयम' नाम की कोई वस्तु नहीं थी।

3. वज्रयानी सिद्धों ने देवत्व की भावना का शुद्ध रूप से आरोपण करते हुए भी, अपनी साधना के लिए निर्गुण को ही स्वीकार किया।

4. सिद्धों ने अपनी साधना में पंचमकारों–मानिक–मदिरा–मद्य–मांस–मैथनु के सेवन को मान्यता प्रदान की।

5. सिद्धों की साधना–पद्धति में गृहिणी के साथ कामकेलि को मन्त्रा–तन्त्रा की साधना से भी बढ़कर माना गया। कण्हपा का एक पद द्रष्टव्य है –

एक्क ण किज्जइ मंत्रा या तंत्रा। णिअ घरणीलइ केलि करंत।

णिअ घरणी जाब ण मज्जइ। ताब कि पंचवर्ण बिहरिज्जइ।।

सिद्ध साहित्य

सिद्ध कवियों की रचनाएं दो रूपों में उपलब्ध होती हैं–दोहाकोश और चर्यापद। अब तक कण्हपा, तिलोपा तथा सरहपा के पूर्ण 'दोहाकोश' तथा सरहपा के अन्य दो खण्डित 'दोहाकोश' प्राप्त हुए हैं। स्वरूप की दृष्टि से 'दोहाकोश' कही जाने वाली रचनाएं दोहों तथा दोहे से निर्मित चतुष्पदियों की कडवक शैली में मिलती है। 'चर्यापद' बौद्ध साधनाओं के समय गाये जाने वाले गीत हैं। इस कोटि की रचनाओं के अन्य नाम 'चर्याश्चर्य–विनिश्चय', 'आश्चर्य–चर्या', 'चर्यागीत–कोष' आदि हैं। सिद्धों की ये चर्याएं इनकी रहस्यवादी साधना–पद्धतियों से सम्बन्धित हैं। दोहों में जहां सिद्धों ने अपने समाज के प्रति विरोधत्मक स्वर को मुखर किया है, वहीं चर्यापदों में सम्प्रदायगत सिद्धान्तों तथा रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है।

सिद्ध कवियों की रचनाओं में काव्य की दृष्टि से तीन रूप मिलते हैं –

1. सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से सम्बन्धित रहस्यात्मक साहित्य। उनकी यह भावना अधिकांशतः चर्यगीतियों में व्यक्त हुई है।

2. खण्डन–मण्डन–प्रधान उपदेशात्मक साहित्य।

3. आचार तथा नीति–प्रधान साहित्य।

भाषा : सिद्ध कवियों ने अपनी रचनाएं जिस भाषा में लिखीं उसे विद्वानों ने 'संध्या भाषा' नाम से पुकारा है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्राी सिद्धों की भाषा को 'सांझ' के झुटपुटे के समान कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताते हैं। इसी कारण इसका नाम 'संधा भाषा' पड़ा होगा। बाद में इसी का विकास 'संधा भाषा' के रूप में हुआ होगा। यह व्युत्पति सिद्धों की रहस्यात्मक भावना की प्रतिपादक भाषा को दृष्टि में रखकर दी गयी है। सिद्धों की भाषा का तात्पर्य कहीं तो स्पष्ट होता है और कहीं बिल्कुल अस्पष्ट रह जाता है।

जहां तक सिद्धों की भाषा की प्रकृति का सम्बन्ध हैं, उसमें सांकेतिकता और रूपक तत्व का कितना ही मिश्रण क्यों न हो, है वह शुद्ध रूप से लोकभाषा ही। सिद्ध साधक प्रायः निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों में से थे। वे अपनी साधना–सम्बन्धी बातों को सहज लोकवाणी में अभिव्यक्ति दिया करते थे।

सिद्ध कवि और उनकी रचनाएं : बज्रयानी सिद्धों की संख्या 84 मानी गयी है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल से प्रकाशित 'वर्णरत्नाकर' में 84 सिद्धों में केवल 78 के नाम ही मिलते हैं। राहुल सांकृत्यापन ने 84 सिद्धों का नामोल्लेख किया है। सिद्धों के विषय में जो भी विवरण मिलते हैं वे पूरी तरह आधिकारिक नहीं हैं। इन सिद्धों का कालक्रम, जीवनवृत्त प्राप्त सामग्री के अभाव में अस्पष्ट है। विद्वानों ने इन सिद्धों को 800-1000 ई. के बीच

अवस्थित माना है। इन सिद्ध कवियों का प्रमुख केन्द्र पूर्वी भारत था, परन्तु इनके साधना केन्द्र पूरे भारत में फैले हुए थे। इनकी साधना के केन्द्र सिद्ध पीठ कहलाते थे।

डॉ. रामसिंह तोमर ने प्राप्त सिद्ध कवियों के नाम तथा उनकी सम्भावित रचनाओं की सूची इस प्रकार दी है–

1.	काण्हपाद या कृष्णाचार्य	13 चर्यागीति तथा दोहाकोश में 32 दोहे।
2.	भुसुकपाद	8 चर्यागीति।
3.	सरहपाद	4 चर्यागीति तथा दोहे।
4.	कुक्कुरीपाद	3 चर्यागीति।
5.	लुइपाद	2 चर्यागीति।
6.	शबरपाद	2 चर्यागीति।
7.	शान्ति पाद	2 चर्यागीति।
8.	विरुपाद	1 चर्यागीति।
9.	गुढ़रीपा (गुण्डरीपा)	1 चर्यागीति।
10.	चाढिलपाद	1 चर्यागीति।
11.	कामलिपाद (कम्बलपाद)	1 चर्यागीति।
12.	डोम्बीपाद	1 चर्यागीति।
13.	महीधरपा	1 चर्यागीति।
14.	वीणापा	1 चर्यागीति।
15.	आर्यदेव	1 चर्यागीति।
16.	ढेण्डणपा	1 चर्यागीति।
17.	दारिकपा	1 चर्यागीति।
18.	भादेपा	1 चर्यागीति।
19.	ताड़कवाद	1 गीति।
20.	कंकणपाद	1 गीति।
21.	जयनंदीपा	1 गीति।
22.	धामपा	1 गीति।
23.	तंत्रीपा	1 गीति।
24.	तिलोपाद	35 पद्य दोहाकोश में।

उक्त सिद्ध कवियों की इस सूची में कुछ विद्वान् लुईपा को आदि सिद्ध कवि मानते हैं तो कुछ सरहपा को। समय की दृष्टि से इनमें सरहपा ही सबसे प्राचीन हैं। सरहपा को कुछ लोग हिन्दी का प्रथम कवि भी मानते हैं। सरहपा

का समय विद्वान् 7वीं शताब्दी तक ले जाते हैं। सरहपा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा उनका सम्बन्ध नालन्दा से भी रहा। अन्य सिद्ध कवियों का सम्बन्ध भी नालन्दा तथा विक्रमशिला के बौद्ध शिक्षा केन्द्रों से था।

सिद्ध साहित्य की विशेषताएं :

1. सभी सिद्ध कवियों ने भिन्न–भिन्न मार्ग अपनाए, किन्तु अपने काव्य में सभी ने साधना सम्बन्धी एक तरह के भाव ही व्यक्त किये।

2. सिद्ध कवियों ने समाज के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना व्यक्त की। सिद्ध कवियों ने समाज में समानता के भाव को प्रतिपादित किया तथा पुरोहितवाद और पौराणिक रूढ़ियों का खण्डन किया।

   पंडिअसअल सत्थ वक्खाणअ,

   देहहिं बुद्ध व संत न जाणअ।

   अवणा गमण ण तेणवि खंडिअ,

   तो वि णिलज्जइ भणइ ह उ पंडिअ।

   ('पण्डित सब शास्त्राों की व्याख्या करते हैं, किन्तु देह में निवास करते हुए बुद्ध को नहीं जानते। आवागमन को नष्ट नहीं कर सके, किन्तु निर्लज्ज अपने को पण्डित कहते हैं।')

3. सिद्ध कवियों ने समाज की झूठी मान्यताओं के प्रति आक्रोश व्यक्त किया, साथ ही सद्कार्यों और सद्विचारों को अपनाने का उपदेश दिया। सरहपा दान और परोपकार का उपदेश देते हैं –

   परऊआर ण किअऊ अत्थि ण दीअउ दाण।

   एहु संसारे कवणु फलु वरु छड्डहु अप्पाणु।।

4. सिद्धों ने अपने चर्यागीतों में स्वानुभूत भावों को रूपकों का सहारा लेकर व्यक्त किया। इन्होंने नौका, हरिण, वीणा, डोम्बी (संयोग–शृंगार का रूपक), सम्भोग, रूई धुनना आदि रूपकों का व्यवहार अपने रहस्यात्मक भावों को व्यक्त करने के लिए किया। इन रूपकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रायः ये सभी प्रेमपरक हैं। कुछ रूपक तो ऐसे है जो सांसारिकता से विरक्त सिद्ध साधकों के घोर सांसारिक मोह के प्रति आसक्त होने का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

5. सिद्ध साधकों ने ब्राह्माचरों पर अधिक बल न देकर अन्तः साधना पर अधिक बल दिया। इनकी अन्तः साधना अपने लिए स्वयं ही एक विरले मार्ग का निर्माण करती है। इस साधना के अन्तर्गत जगत् के भोगों द्वारा प्राप्त सुख को ही महासुख कहा गया। सिद्ध साधकों की इस अन्तः साधना में तरुणी–सहवास पर विशेष बल दिया गया। कण्हपा कहते हैं –

   तो विण तरुणि णिरंतर णेहे।

   वोहि कि लब्मई एण वि देहें।

   ('हे तरुणी! तेरे प्रति बिना निरन्तर स्नेह के इस देह द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।')

6. सिद्धों की साधना–पद्धति में तन्त्रा–साधना, वारुणी–प्रेरित अन्तर्मुखी साधना तथा वामाचारों पर विशेष बल दिया गया।

7. सिद्धों की काव्य–भाषा अपनी रहस्यात्मकता के कारण 'संध्या भाषा' या 'संधा भाषा' कही गयी है। परवर्ती काल में सूर के दृष्टकूट पदों तथा कबीर की अटपटी उलटबांसियों पर सिद्धों की इस रहस्यात्मक शैली का प्रभाव पड़ा।

8. सिद्धों की सारी रचनाएं दोहा, चौपाई और चर्यापदों में मिलती हैं। इनके चर्यापद शास्त्रीय हैं। ये सम्प्रदाय में दीक्षित शिष्यों के लिय रचे गये थे। इनके द्वारा रचित दोहा और चौपाई के पद लोकप्रिय होने के साथ ही लोकसामान्य भावधारा के द्योतक हैं।

9. सिद्धों का सारा काव्य–जगत् चमत्कारों से भरा पड़ा है। इनके पदों में काव्यात्मक सौन्दर्य नाम की वस्तु ढूंढे भी न मिलेगी। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से सिद्धों की इन रचनाओं का बहुत बड़ा महत्व है।

सिद्ध साहित्य का महत्व प्रतिपादित करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन है – ''सिद्ध साहित्य का महत्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवलए मात्रा तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है।''

3. नाथ साहित्य :

नाथ सम्प्रदाय का उद्‌भव बौद्ध धर्म की बज्रयानी परम्परा से हुआ। बज्रयानी सिद्धों की सहज साधना के साथ शैवमत की मान्यताओं को मिलाने से नाथपंथ विकसित हुआ। नाथपंथ की जन्म तो बज्रयान से हुआ, किन्तु उसका पोषण शैवमत की गोद में हुआ। वस्तुतः सिद्धों की विकृत काव्यधारा और तान्त्रिाक साधना का परिष्कृत रूप नाथ योगियों ने प्रस्तुत किया।

नाथपंथ के प्रवर्त्तक आदिनाथ अर्थात् शिव माने जाते हैं, जिनके प्रमुख शिष्य के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम आता है। मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) के शिष्यों की परम्परा काफी विस्तृत है, किन्तु उनके प्रमुख शिष्य गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) थे, जिन्होंने नाथपंथ का इतना उत्कर्ष किया कि यह पंथ सम्पूर्ण भारतवर्ष, योगियों का विशेष योगदान रहा है। इन चारों के विषय में अनेक किंवदंतियां और दंतकथाएं आज भी प्रचलित हैं। नाथ योगियों ने बज्रयान को विकृतियों से मुक्त कर शैवमत के आधार पर शुद्ध यौगिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। नाथ योगियों ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों को अपने पंथ में शामिल किया। साथ ही निम्न जाति के लोगों को भी नाथपंथ का अनुयायी बनाया। नाथ योगियों ने भारत की योग परम्परा को प्रतिष्ठित कर इस पंथ को सामान्य जन से जोड़ दिया। इस सम्प्रदाय में दीक्षित साधु अपने नाम के आगे नाथ शब्द जोड़ते हैं।

नाथपंथ को अनेक नामों से पुकारा जाता है – कान छिदवाने के कारण कनफटा सम्प्रदाय, योग मत, योग सम्प्रदाय, अवधूत सम्प्रदाय आदि। किन्तु नाथ सम्प्रदाय सबसे लोकप्रिय नाम है।

नाथ साहित्य की विशेषताएं :

1. नाथ साहित्य विशुद्ध रूप से योगपरक साहित्य है। नाथ–कवियों की वाणियों में काव्य–सौन्दर्य का अभाव है।

2. नाथ योगियों ने साधना का पवित्रा मार्ग विकसित किया, जिसमें जप, तप, संयम पर विशेष बल दिया गया है। नाथ साहित्य में इन गुणों की प्रतिष्ठा मिलती है।

3. नाथ कवियों ने गुरु को बहुत अधिक महत्व दिया है तथा उसे ब्रह्म के समान ही माना है। गोरखनाथ कहते हैं –

नाथ–निरंजन आरती गाऊं।

गुरु दयाल आग्या जो पाऊं।।

4. नाथ–योगियों ने अन्तः साधना–जप, तप, संयम आदि पर बल देते हुए भी व्यावहारिक जीवन पर बल दिया। कष्ट–साध्य हठयोग के आसनों, मुद्राओं आदि का वर्णन करते हुए भी अनेक स्थानों पर योग–साहित्य में ऐसे कथन मिलते हैं जिनसे इनके जगत् के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी पता चलता है। गोरख के इस कथन में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है –

''हंसिबा खेलिबा गाइबा गीत।

दिढ़ करि राखि आपना चीत।।''

5. नाथ–साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की भावना है। उनका यह समन्वय कई रूपों में देखा जा सकता है। 'बौद्ध धर्म की मान्यताओं के साथ ही शैव और शाक्त मत की मान्यताओं को स्थान देना तथा हिन्दू एवं मुसलमान, दोनों धर्मों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास। नाथपंथ के विकास तक यहां इस्लाम धर्म का प्रचार हो चुका था। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य थे। नाथ–योगी हिन्दू और मुसलमान, दोनों को एक ही खुदा का बन्दा मानते थे।

6. नाथ–पंथियों के लिए हठयोग अन्तः शुद्धि का साधन है तथा अन्तः शुद्धि की चरमावस्था वस्तुतः भक्ति की ही प्राप्ति है। नाथ साहित्य में भक्ति को भी महत्व दिया गया। भक्तिकाल के सन्त कवियों की तरह नाथ कवि भी अपने व्यवहार में बहुत विनम्र और अहंकार रहित हैं। स्वयं गोरखनाथ का कथन है –

हबकि न बोलिबा छबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।

गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरख रावं।।

7. नाथ–योगियों की काव्य–भाषा सिद्धों की भी भाषा से आगे बढ़ी हुई हिन्दी है। इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश के रूपों को छोड़ हिन्दी का प्रारम्भिक स्वरूप प्रकट करती है। हिन्दी भाषा के विकसित रूप के प्रदर्शन में नाथों का योगपरक साहित्य महत्वपूर्ण है।

8. नाथ कवियों द्वारा रचित साहित्य में सरसता का सर्वथा अभाव है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है – ''इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर–भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक–विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था।'' इसका कारण यह है कि नाथपंथ में गृहस्थ जीवन के प्रति अनास्था और अनादर की भावना मिलती है। यह पंथ निवृत्तिपरक जीवन और ब्रह्मचर्य पर बल देता है। मद्य–मैथुन–मांस आदि के लिए यहां कोई स्थान नहीं है।

4. वीर काव्यधारा (रासो काव्यधारा अथवा चारण काव्यधारा) :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम दिया था, क्योंकि उनके अनुसार इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों की प्रचुरता थी। वीरगाथात्मक काव्य से इतर इस काल के साहित्य को शुक्लजी ने धार्मिक या साम्प्रदायिक साहित्य कहकर अलग रख दिया। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास– ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा – ''आदिकाल का नाम मैंने वीरगाथाकाल रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएं मिलती हैं – अपभ्रंश की और देश भाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्मतत्व निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख यह दिखान के लिए किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कबसे हो रहा था। साहित्य कोटि में कुछ तो भिन्न–भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे हैं जिनके अनुसार

उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं हो सकती।''

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल के लक्षण निरूपण के सन्दर्भ में इन बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया – विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, सुभानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द्रप्रकाश, जयमंयक जसचन्द्रिका, परमालरासो, खुसरो की पहेलियां, विद्यापति पदावली।

रासो काव्य : रासो या रासक नाम की कृतियां पहले–पहले अपभ्रंश भाषा में मिलती हैं। रासो शब्द की व्युत्पत्ति जिन शब्दों से मानी गयी है, उनमें राजसूय, रसायण, रसिक, रास या रासक आदि प्रमुख है। संस्कृत साहित्य में 18 उपरूपकों में 'नाट्यरासक' भी एक भेद है। अपभ्रंश काव्यों में रासो कहे जाने वाले गीत–नृत्य परम्परा के रासो काव्यों का सम्बन्ध भी इसी नाट्य रासक में रहा होगा।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'रासक' शब्द से भाषा वैज्ञानिक आधार पर भी ठीक लगती है–रसिक > रासअ या रासउ > रासो। इस परम्परा की कृतियों के लिए 'रासकरास', 'रासो', 'रासा' कई प्रकार के नाम मिलते हैं। इन विभिन्न नामों में तात्त्विक रूप से कोई भेद नहीं है। अपभ्रंश काव्य परम्परा में 'रासा' एक छन्द का नाम भी है। विरहांक के अनुसार जिस रचनाओं में अडिल्ला, दोहा, धन्ता, रड्डा और ढोसा छन्द बहुतायत से मिलते हों, उसे रासक काव्य कहते हैं।

किन्तु आदिकालीन जिन ग्रन्थों के लिए 'रासो' शब्द रूढ़ हो गया, उनमें प्रमुख कृतियां इस प्रकार हैं– चन्दबरदाईकृत 'पृथ्वीराज रासो', मेरुतुंगकृत 'प्रबन्थचिन्तामणि', अब्दुल रहमानकृत 'संदेशरासक', 'ब्रह्मभट्टकृत 'हम्मीर रासो', जल्हणकृत 'बुद्धिरासो', जगनिककृत 'परमाल रासो', नल्लसिंहकृत 'विजयपाल रासो', माधवदास चारणकृत 'रामरासो', दयाल कविकृत 'राणा रासो', 'कुम्भर्णकृत' 'रतनरासो', न्यामत खां 'आन–कृत 'कायम रासो', रावडूंगरसीकृत 'शत्रुसाल रासो', कीर्तिसुन्दरकृत 'मांकण रासो'–इसे मत्कुण (खटमल) का चरित्रा वर्णित है, जोधराजकृत 'हम्मीर रासो', गिरिधर चारणकृत 'संगतसिंह रासो', दलपतिकृत 'खुमाण रासो' इत्यादि।

इन्हीं ग्रन्थों की वीरगाथात्मक काव्य, वीर काव्य, चारण काव्य कहते हैं। इनके आधार पर ही वीर काव्यधारा की विशेषताएं समझी जा सकती हैं।

आदिकालीन वीरगाथात्मक काव्यों की विशेषताएं :

1. **अधिकांश वीरगाथात्मक काव्यों की प्रामाणिकता संदिग्ध :**इस काव्यधारा की सबसे श्रेष्ठ रचना चन्दरबरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' मानी जाती है और जितना विवाद 'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता को लेकर हुआ है उतना हिन्दी में अन्य किसी ग्रन्थ को लेकर नहीं हुआ। 'बीसलदेव रासो' तथा 'परमाल रासो' की प्रामाणिकता को लेकर भी विवाद रहा है।

2. **वीरगाथात्मक काव्यों में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव :**यों तो सारे वीर काव्य इतिहास प्रसिद्ध राजाओं के ख्यात–वृत्तों के आधार पर ही रचे गये हैं, किन्तु इनके रचयिताओं ने इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा की है। इसका कारण यह है कि इन काव्यों के रचयिता राजाओं के आश्रय में रहते थे। हर कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा खूब बढ़–चढ़कर करता था। उनका उद्देश्य ही आश्रयदाता की कीर्ति का बखान करना होता था। अतः इतिहास का निर्वाह सम्भव ही नहीं था।

3. **वीर काव्यों के रचयिता अधिकांश चारण :** वीरता और उत्साह का संचार करने के लिए प्रत्येक राजा के दरबार में चारण हुआ करते थे, जिनका कार्य अपने आश्रदयाता की बढ़ा–चढ़ाकर

प्रशंसा करना होता था। वक्त पड़ने पर ये चारण युद्ध भूमि में सैनिकों को कविताओं के द्वारा उत्साहित किया करते थे। इन्हीं चारण कवियों ने वीरगाथात्मक काव्यों की रचना थी।

4. आश्रयदाताओं की अत्याधिक प्रशंसा : इस काल का कवि अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करने में कल्पना का भरपूर प्रयोग करता था। अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए वह वास्तविक और अवास्तविक सभी प्रकार की घटनाओं का वर्णन करता था। इन अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों का केन्द्र कवि का आश्रयदाता ही हुआ करता था।

5. कविता में राष्ट्रीय भावना का अभाव : चारण कवि अपने आश्रयदाता के हित की ही बात सोचता था। वह अपने आश्रयदाता को सर्वगुणसम्पन्न और परम्पराक्रमी व्यक्ति के रूप में चित्रिाता करता था। इसलिए यह कवि समाज और राष्ट्र के विषय में सोच ही नहीं पाता था। उनकी राष्ट्रीय भावना तो आश्रयदाता के राज्य तक ही सीमित रहती थी। उस काल में देश छिन्न–भिन्न होकर छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था और इनके राजा भी परस्पर शत्रुाता करने में ही अपनी श्रेष्ठता समझते थे। चारण कवि संकुचित भावों का चित्राण कर अपने राजा के अहंकार को तुष्ट करते थे, अतः इन काव्यों में राष्ट्रीय भावना का चित्राण नहीं मिलता।

6. युद्धों का सजीव वर्णन : वाणी और तलवार दोनों के धनी होने के कारण इन कवियों ने अपने काव्यों में युद्धों का बड़ा स्वाभाविक और प्रभावशाली वर्णन किया है। इन कवियों का कार्य राजाओं की प्रशंसा करने के साथ वीरों को युद्धभूमि में प्रोत्साहित करना भी होता था। कविगण स्वयं युद्धभूमि में जाया करते थे और वक्त पड़ने पर स्वयं भी लड़ते थे। इसलिए इन काव्यों में युद्धों के बड़े सजीव चित्रा मिलते हैं। चन्दबरदाई कें 'पृथ्वीराज रासो' में युद्धों के अनेक सजीव चित्रा हैं।

7. वीर और शृंगार रसों का परिपाक : इन काव्यों में युद्धों का सजीव वर्णन हुआ है, अतः वीर रस के साथ भयानक, अद्‌भुत और वीभत्स रसों का सुन्दर परिपाक मिलता है। इनके साथ ही ये कवि अपने आश्रयदाता के विलासी जीवन को उद्दीप्त करने के लिए शृंगार रस के वर्णन भी खूब करते थे। युद्ध के समय वीरता और शान्ति के समय शृंगार इन कवियों के मुख्य रस थे। कभी–कभी तो कवि किसी राजकुमारी के रूप का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कर राजा को उस राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए भी प्रेरित करते थे।

8. प्रबन्ध तथा मुक्त दोनों रूपों का प्रयोग : वीर काव्य के कवियों ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों काव्य रूपों में काव्य रचना की है। 'पृथ्वीराज रासो' प्रबन्ध काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है तो 'बीसलदेव रासो' मुक्तक काव्य का। विद्यापित ने 'कीर्तिलता' की रचना गद्य–पद्य में की है। 'बीसलदेव रासो' में कथा निर्वाह अवश्य है, किन्तु इसकी प्रकृति मुक्तक काव्य की है।

9. छन्द वैविध्य का निर्वाह : वीरगाथा काव्यों में बहुत से छन्दों का सम्यक् प्रयोग मिलता है। अकेले 'पृथ्वीराज रासो' में 68 छन्दों का प्रयोग मिलता है। इतने छन्दों का एक काव्य में प्रयोग बहुत कम मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' में तो भावों के अनुकूल छन्द विधान है।

10. प्रकृति चित्राण : इन काव्यों में यत्रा–तत्रा प्रकृति चित्राण मिलता है, किन्तु यह चित्राण आलम्बन तथा उद्दीपन रूपों में ही है। 'पृथ्वीराज रासो' में नगर, नदी, पर्वत, उपवन आदि का वर्णन काफी मनोरम है तथापि इन काव्यों का प्रकृति चित्राण सामान्यतः नीरस और उबाऊ है।

11. काव्य भाषा : वीरगाथा काव्यों की भाषा प्रमुख रूप से डिंगल है तथापि कवियों ने पिंगल भाषा का प्रयोग भी किया है। डिंगल या डींगल शब्द पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी की साहित्यिक भाषा के लिए हुआ है। भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले बांकीदास और उनके वंशज बुधाजी ने किया। बांकीदास की 'कुकवि बत्तीसी' की रचना की भाषा को स्वयं कविने डींगल कहा है। बाद में पिंगल के वजन पर डिंगल शब्द प्रचलित हो गया।

1.4.8 आदिकाल की पृष्ठभूमि

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' नाम से पुकारा है। यह एक विचित्रा स्थिति है कि एक ओर 10वीं शताब्दी के बाद रचित अपभ्रश रचनाओं को हिन्दी की रचनाएं मान लिया गया है तो दूसरी ओर 7वीं शताब्दी से ही मिलने वाली अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की सीमा से बाहर कर दिया गया है। यदि हम अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मान लेते हैं तो उसकी पूर्व सीमा कालिदास तक चली जाएगी, क्योंकि उनके नाटों में व्यवहृत अपभ्रंश के पद हिन्दी के ही माने जाएंगे।

शुक्ल जी वास्तविक रूप से हिन्दी का स्वरूप तथा विकास चारणों की रचनाओं से ही स्वीकार करते हैं, फिर भी उन्होंने अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी कुछ इस प्रकार घुली–मिली है, कि खुसरो के पहले दोनों का स्वरूप अलग–अलग स्पष्ट नहीं हो पाता। इन समस्त विवादों का कोई हल निकल पाना सम्भव नहीं है। इसी कारण अधिकांश विद्वानों ने अपभ्रंश की रचनाओं को आदिकालीन या पुरानी हिन्दी की रचनाएं स्वीकार कर लिया है। कोई भी भाषा एकाएक विकसित होकर सामने नहीं आ जाती और न ही एकाएक लुप्त हो जाती है। यही हाल आदिकालीन साहित्यिक भाषा का भी है, वह धीरे–धीरे अपभ्रंश से अपना स्वरूप विकसित करती हुई, खुसरो की कविता में अपना निजी रूप प्राप्त कर, विद्यापति की कविता तक फैली हुई दिखायी पड़ती है। वस्तुतः 10वीं से 14वीं शताब्दी तक के जिस साहित्य को आदिकालीन साहित्य की संज्ञा दी गयी है, उसकी पृष्ठभूमि के रूप में इस समय पहले रची गयी अपभ्रंश की कृतियों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी के स्वरूप के विकास की स्थिति इन कृतियों की भाषा से स्पष्ट होती है।

अपभ्रंश : प्राप्त साक्ष्यों से यह तय हो जाता है कि 7वीं शताब्दी तक अपभ्रंश काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्राकृतों की भांति अपभ्रंश भी व्याकरणबद्ध होकर साहित्यिक भाषा के रूप में रूढ़ होने लगी थी तथा लोकभाषाओं ने विकास करना आरम्भ कर दिया था। 10वीं शताब्दी तक की रचनाओं की भाषा को परिनिष्ठित अपभ्रंश माना गया है। परिनिष्ठित अपभ्रंश से ही उस देशभाषा (लोकभाषा) का विकास हुआ, जो सामान्य जन–जीवन के रस और प्राण ग्रहण कर रही थी। इसी देशभाषा या लोकभाषा से विकसित होकर हिन्दी ने अपना रूप ग्रहण किया। इसका आरम्भ 10वीं शताब्दी के आसपास होता है, इसीलिए विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पूर्व सीमा 10वीं शताब्दी निर्धारित की है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल की भाषा की विवेचना करते हुए लिखा है – ''दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा–साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः यह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी–किसी के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखक आदिकाल माना जा सकता है।'' आदिकालीन हिन्दी साहित्य और उसकी भाषा को परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही बढ़ा हुआ रूप स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं – ''वस्तुत छन्द, काव्य, रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य–वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।'' हिन्दी साहित्य के आदिकाल की भाषा और उसके

साहित्यिक स्वरूप का निर्माण करने वाली जिन कृतियों को विद्वानों ने स्वीकार किया है, वे इस प्रकार है –

1. पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदायीकृत) 2. परमाल रासो (जगनिककृत) 3. विद्यापति पदावली, 4. कीर्तिलता (विद्यापति) 5. कीर्तिपताका (विद्यापति), 6. संदेशरासक (अब्दुरहमानकृत), 7. स्वयंभूकृत पउमचरिउ (पद्मचरित, रामायण), 8. धनपालकृत भविसयत्तकहा (भविष्यदत्तकथा) 9. जोइन्दु (योगीन्द्रकृत) परमात्म–प्रकाश, 10. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्राी द्वारा संकलिक 'बोद्धगान औ' दोहा', 11. स्वयंभूकृत स्वयंभूछंद, 12. प्राकृत पैङ्गलम् (लक्ष्मीघर)।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में गुलेरीजी, राहुलजी तथा रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी या प्राकृताभास हिन्दी माना है। गुलेरीजी का मत है – ''अपभ्रंश कहां समाप्त होती है और पुानी हिन्दी कहां आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन, किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती है। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिन्दी भी।'' काशीप्रसाद जायसवाल नेभी स्वीकार किया है – ''काव्यगत भाषा अपभ्रंश प्राकृत से दूर और हिन्दी व्याकरण के निकट है। अतः उसे पुरानी हिन्दी कहने में हमें सकोच नहीं होता।'' राहुलजी अपभ्रंश और हिन्दी में तद्भव और तत्सम शब्दों के प्रयोग बाहुल्य के अलावा कोई तात्विक भेद स्वीकार नहीं करते। भाषाशास्त्राी डॉ. हरदेव बाहरी भी उत्तरकालीन प्राकृतों से आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास को निर्दिष्ट करते हैं।

इसका सीधा–सा अर्थ यही है कि अपभ्रंश भाषा की रचनाओं में ही हिन्दी का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है – ''इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय यह है कि वह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है। जिस समय की इसकी रचनाएं मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं (जैसे पीछे की हिन्दी में तत्सम संस्कृत शब्द लिए जाने लगे) विभक्तियां, कारक चिन्ह और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत अपने समय से कई वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस–घिसाकर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी, सारा वही रूप न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे, जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि परम्परा रखती आती थी।''

हिन्दी का प्रथम कवि : ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धु 773 ई. के पुष्प या पुण्ड को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं, किन्तु कवि के जीवन चरित तथा काव्य के विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। शिवसिंह ने 'सरोज' में जनश्रुति के आधार पर इसका कुछ विवरण दिया है – ''संवत् सात सौ सत्तर'' विक्रमादित्य में राजा 'मान' अवंतिपुरी का बड़ा पण्डित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्प भाट ने प्रथम संस्कृत ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाए। हमको भाषा की जड़ यही कवि जान पड़ता है।'' हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पुष्प को अपभ्रंश कवि पुष्पदंत होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं, जिसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी है। अगर यह पुष्पदंत न भी हुए तो कोई अपभ्रंश कवि ही होगा, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है।

कुछ विद्वान 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्दरबरदाई को हिन्दी का पहला कवि मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने चन्द को प्रथम कवि माना है, किन्तु 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर ही प्रश्न उठते रहे हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में चन्द के नाम से लिखित चार छप्पयों को तथा उसके भाषा की प्रकृति, समकालीन काव्यों की कथानक रूढ़ियों को देखकर पृथ्वीराज के दरबार में चन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु पृथ्वीराज रासो का मूल रूप अभी उपलब्ध नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में चन्द को प्रथम कवि असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता है। इधर विद्वानों का एक वर्ग अपभ्रंशकालीन लोकभाषा के प्रथम प्रयोक्ता सरहणा को हिन्दी के प्रथम कवि होने का गौरव प्रदान करने का प्रबल

समर्थक हो गया है। शुक्लजी बौद्ध सिद्धों की रचनाओं को साहित्यिक कोटि में मानते ही नहीं इसलिए प्राकृतभास हिन्दी के इन लेखकों को कवि के रूप में मान्यता देने पर उन्होंने विचार ही नहीं किया। उनका कथन है – ''सिद्धों ने बाह्या पूजा, जाति–पाति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा बुद्धि का प्रचार किया। रहस्यवादी बनकर शास्त्रा विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियां बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाड़ियां, शून्यदेश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई।''..... आगे सन्त सम्प्रदाय इसी रास्ते पर चला। शुक्लजी की विशुद्ध पण्डित बुद्धि शास्त्राज्ञों की निन्दा करने वाले स्वानुभूति तथा आत्मिक साधना पर बल देने वाले काव्य भाषा, काव्य–वस्तु तथा काव्य–परिपाटी में नूतन क्रान्ति उपस्थित करने वाले सिद्धों की महिमा न स्वीकारते हुए भी उनके अवदान की निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करती है और उन्हें कवि मानने के लिए आधार भूमि भी तैयार कर देती है। अन्त में वे भले ही इनकी रचना को जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से असम्बद्ध तथा साम्प्रदायिक शिक्षा मात्रा कह देते हैं। बाह्यडम्बरों तथा जाति–पाति के दबाव से घुटता, शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में उपेक्षित मानव का एक विशाल वर्ग यदि इन सिद्धों के आक्रोश, खण्डन–मण्डन तथा उपहास में वाणी पाता है तो इसे स्वाभविक अनुभूति न कहा जाय तो क्या कहा जाए ? शुक्ल जी के लिए यह भले ही स्वाभाविक नहीं था। राहुल सांकृत्यायन द्वारा निर्णीत तिथि को यदि प्रामाणिक माना जाय तो सरहपा ही हिन्दी के प्रथम कवि का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने अनेक विद्वानों का हवाला देकर 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के प्रणेता शीलभद्र सूरि को हिन्दी का पहला कवि माना है। पर इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश के अधिक निकट है तथा इसका रचनाकाल भी सरहपा के बाद का ठहरता है। डॉ. वासुदेव सिंह ने डॉ. गुप्त के तर्क के आधार पर ही योगीन्द्र मुनि को हिन्दी का प्रथम कवि मानने की बात कही है। पर वे योगीन्द्र मुनि के पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते। अतः यही कहा जा सकता है कि सरहपा ही हिन्दी के प्रथम कवि है।

1.4.8.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. हिन्दी साहित्य की आदिकालीन परिस्थितियों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

2. आदिकालीन प्रवृतियों पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

3. आदिकालीन गद्य साहित्य पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

1.4.9 सारांश

यह ग्रंथ पाखण्ड और आडम्बर का विरोध करता है और गुरु–सेवा का महत्व दर्शाता है। जैन साहित्य वैसे तो अपभ्रंश में रचित है, किन्तु कुछ साहित्य अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी एवं अपभ्रंश मुक्त हिन्दी में भी उपलब्ध होता है। सिद्धों की वाममार्गी भोग प्रधान साधना की प्रतिक्रिया के रूप आदिकाल में नाथ पंथियों को हठ योग साधना आरंभ हुई। 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रासायण' से हुई माना जाता है। हिन्दी में मुख्यतः वीर रसात्मक प्रबन्ध काव्य के लिए रासो शब्द का प्रयोग हुआ है। नरपति नाल्ह द्वारा रचित 'बीसलदेव रासो' एक सुन्दर विरह काव्य है। चन्दबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया गया है। आदिकाल में उपलब्ध फुटकल साहित्य में से भट्ट केदार कृत 'जयचन्द्र प्रकाश' तथा मधुकर कृत 'जयमयंक जयचन्द्रिका' नोटिस मात्रा हैं। इनके उल्लेख 'राठौड़ा री ख्यात' में मिलता है। सिद्धों की वाममार्गी भोग प्रधान योग साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना आरंभ हुई। इसके प्रवर्तन मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ माने जाते हैं। गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में गुरु–महिमा इन्द्रिय–विग्रह, प्राण–साधना, वैराग्य, शून्य समाधि आदि का वर्णन किया है। काव्य रचना की दो महत्वपूर्ण शैलियों–डिंगल तथा पिंगल का आदिकाल में विकास हुआ। डिंगल थोड़ी कर्कश भाषा थी, जिस कारण पिंगल भाषा अधिक लोकप्रिय हुई। आज भी राजस्थान की काव्य रचनाओं में इन दोनों शैलियों की उस परम्परा के अवशेष मिल जाते हैं।

1.4.10 लघु प्रश्न :

1) हिन्दी साहित्य सामग्री को कितने भागों में बांटा जा सकता है? वर्णन करें।

2) आदिकाल के लिए उपयुक्त नाम पर विचार करते हुए इस काल की सीमा निर्धारित कीजिए।

3) आदिकालीन परिस्थितियों पर संक्षिप्त सार लिखें।

4) हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक काल विभाजन कीजिए।

5) डिंगल तथा पिंगल शैलियों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

6) नाथ साहित्य के प्रवर्त्तक कौन माने जाते हैं और इस साहित्य की देन विषय पर अपने विचार प्रकट करें।

1.4.11 सहायक पुस्तकें :

1) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डॉ. राजकुमार वर्मा

2) हिन्दी साहित्य का आदिकाल – डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

3) हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा – राम अवध द्विवेदी

4) हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

Mandatory Student Feedback Form

https://forms.gle/KS5CLhvpwrpgjwN98

Note: Students, kindly click this google form link, and fill this feedback form once.